Nah ka Tat.

नेह के तट

सन्तोष कौशल एम० ए०

Santosh Kaushal

स्टैन्डर्ड पब्लिशिंग कम्पनी

अम्बाला शहर

Standard publishing; Ambala. 1966

cat- 27737
04. 02 - 13

प्रकाशक—
स्टैण्डर्ड पब्लिशिंग कम्पनी
अम्बाला शहर

No 279.59
Rs. 2.50
Date 20.3.67
Library

पहला संस्करण

H83.1
S15N

सितम्बर, १९६६

दो रुपये

2.50

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं।

मुद्रक—
कनक प्रिंटिंग प्रैस
सहारनपुर

602
A157

नेह के तट

लेखिका की अन्य रचनाएँ

सपने छलते हैं !

(कहानी संग्रह)

मन माने की बात

(उपन्यास)

बहती नदिया – रीति गगरी

(उपन्यास)

मेरे बच्चो !

ऐसे थे चाचा नेहरू !

एक बात····

ये कहानियाँ बचपन की हैं······सब सोलह-सत्रह साल की उमर में लिखी गईं—तब······सबको देखने का प्रलोभन था—किसी एक को पूर्ण समभ़ दृष्टि उठी ही नहीं ।

काफी बाद में लगा·····मैं तो सागर देखती रही । पर······एक एक अकिंचन बिन्दु भी स्वयं में जाने कितनी पीर संजोये है······जिसे किसी की सजल, संवेदनशील दृष्टि की अपेक्षा है ।

नेह के तट

भरे गले से आँखों में मोटे-मोटे आँसू लाकर सुखदा अपनी देवरानी से बोली —‘तुम्हीं कहो हेमा, मेरा आदीश क्या कभी ऐसा कर सकता है ?”

सहानुभूति दिखा हेमा ने कहा —“आदीश ऐसा तो नहीं था जीजी।”

फुआ हर बात में दखल देना अपना अधिकार समझती है, अब भी चुप कैसे रहती ? आटा सने हाथों से रसोईघर से बाहर आकर बोली—‘राम कहो बीबी ! अब जमाना बदल गया है।”

बस—

तब से वहीं बंध गया मन ।

सो ·······

ये कहानियाँ मेरी नहीं—तुम्हारी भी नहीं—हमारी हैं—म सबकी हैं·······!

—सन्तोष कौशल

क्रम

१.	नेह के तट	१
२.	ये कीड़े–यह नागपाश	१५
३.	परख	२६
४.	सांझ ढ़ले दीप जले	४२
५.	कन्या दान	५३
६.	नई देहलीज	६६
७.	एक धागा सूत का	८०
८.	असली और नकली	६२
६.	एक नारी–एक देवी	१०४

सुखदा ने जाने कैसी दृष्टि से हेमा की ओर देखा–उस दृष्टि में याचना थी, और था वही भाव कि देखो हेमा, जब तुम कहती हो आदीश ऐसा नहीं, तो फुआ ऐसा क्यों कहती है ?

हेमा बेचारी चुप रह गई। कहती भी क्या ? सुखदा भी बड़ी, और फुआ भी बड़ी।

फुआ की बात सुखदा को नहीं भाई, वह आँचल से नेत्र पोंछती वहाँ से उठ अपनी कोठरी में आकर पड़ गई, परन्तु वहाँ भी मन न लगा, तो पति शिवनाथ के कमरे में आ गई।

शिवनाथ की प्रकृति ही दूसरी थी। धन पास में था, नौकरी से रिटायर हो चुके थे–हुक्का और शतरंज, बस ये ही दो चीजें उनके लिये रह गई थीं।

सुखदा ने पूछा—"क्या सचमुच यही लिखा है आदीश ने ?"

"हूँ" करके शिवनाथ हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

तनिक आक्रोश से भर कर वह बोली—"इस निगोड़ी गुड़-गुड़ से भी फुर्सत होगी कभी तुम्हें ?"

शिवनाथ झल्ला कर बोले—"अजीब मुसीबत है। सुबह से बीस बार तुम यह पत्र सुन चुकी हो। अरे, इसमें आँसू बहाने की क्या बात है। एक न एक दिन ब्याह करना ही था आखिर ! उसने अपनी इच्छा से चुन लिया, तो क्या ग़ज़ब हो गया। तेरा मेरा जमाना लद गया सुखदा ! आदीश को भी तूने शिवनाथ समझ लिया क्या, जो कपड़ों की गठरी में लिपटी मिट्टी की माधो को ले आयेगा ?" अपनी ही बात पर हो-हो करने लगे शिवनाथ।

सुखदा ने एक बारगी रोकर कहा—"बाप-बेटे मिलकर मार डालो मुझे। मेरी जान पर बीत रही है, इन्हें हँसी सूझी है।" और कमरे से बाहर आ गई।

"अजीब बात है भई।" कह कर बड़े विचित्र ढङ्ग से कन्धे हिलाये शिवनाथ ने, और इतमीनान से फिर गुड़-गुड़ में व्यस्त हो गये।"

आदीश शिवनाथ का इकलौता बेटा है, जो विलायत में डाक्टरी पढ़ रहा था। दो वर्ष हो गये हैं उसे गये—अवधि पूरी हो चुकी है। कहाँ तो सुखदा उसके आने की बाट जोह रही थी, और मिला है उसका पत्र, जिसमें उसने वहीं पर पढ़ने वाली एक भारतीय लड़की से अपने विवाह की सूचना भेजी है, जिसे लेकर वह पन्द्रह दिन बाद पहुँच रहा है।"

सुखदा की उलझन और परेशानी का यही कारण है। उसने पुत्र के विवाह की कितनी कल्पनायें सँजोई थीं, ये कल्पनायें उसके जीवन का आधार थीं। पुत्र के पत्र ने इन सब पर निराशा का अवसादमय आवरण डाल दिया है। समस्त आशाएँ छिन्न हो गई हैं—भावनाएँ बिखर गई हैं।

पहले तो रो-धोकर मन का गुबार निकाला सुखदा ने, फिर निश्चय किया कि आदीश को घर में पग भी न धरने देगी। परन्तु यह निश्चय भी अधिक देर तक टिका न रहा। अपने पति के स्वभाव से वह भली प्रकार परिचित थी ही। आदीश का पत्र पाते ही वह आशीर्वाद का केबल भी दे आये थे।

रह-रह कर आदीश पर क्रोध हो आता—क्या इसीलिये इतना बड़ा किया था उसको कि माँ की एकमात्र साध पर पानी फेर दे। बचपन में आदीश बड़ा हठी था। तब शीतकाल की अनगिनत रातों की स्मृति उसे हो आई, जब वह आदीश को गोद में लिये ही रात बिता देती थी।

लड़कपन में आदीश का हठ बड़ा प्यारा लगता था—मन को

उससे अपूर्व आनन्द अनुभव होता था। आज का हठ तो बड़ा मँहगा पड़ा है उसे।

बिरादरी वालों का ध्यान हो आने से वह कठोर सी हो गई। "अरे, मेम न सही, पढ़ती तो वहीं थी—वह क्या मेम से कम होगी? उसके सिर पर भी मर्दों जैसे अंगुल-अंगुल बाल होंगे। फराक वराक ही पहनती होगी। मुंहजली को मेरा आदीश ही मिला था। मेरा भोला बेटा!" एकाएक आदीश पर उसकी करुणा, उसका ममत्व उमड़ पड़ा। सुखदा उसी प्रकार दयार्द्र हो उठी, जैसे बहेलिये के जाल में पड़ी चिड़िया को देख मन द्रवित हो उठता है। उसे, वह लड़की बहेलिया और अपना आदीश निरीह चिड़िया लगी। अपनी अनदेखी बहू के लिये सुखदा बिन बात ही कटुता से भर गई। कठोर बन गई।

आदीश के आने का दिन आ गया। धड़कते दिल से सुखदा ने उठ कर मैली-कुचैली धोती बाँध ली। बहू विलायती है तो हो—उसके लिये वह तो मलेच्छ बनने से रही।

शिवनाथ की उमङ्ग का क्या कहना? उनके पाँव तो धरती पर पड़ ही नहीं रहे थे। उनका बेटा विलायत में ब्याह कर आया है, उन्हें इस बात में बजाय हेठी के अभिमान हो रहा था। बच्चों की सी चपलता से भरे वह तरङ्गित से घूम रहे थे। यहाँ गर्द पड़ी है—यहाँ जाले लगे हैं—इस पलङ्ग की चादर गन्दी है—अरे, यह गिलाफ तो फटा है—ऐ कोई है? सोफा झाड़ दो, बहू कैसे बैठेगी?

सुखदा उनकी इस उमङ्ग को देख जी ही जी में कुढ़ रही थी। सुखदा को देख शिवनाथ बोले—"अरे तुम भी तेल-वेल डाल लो बालों में। अपनी बहू क्या कहेगी?"

"तुम अपने काम से काम रखा करो—जो करूँ सो करूँ, तुम्हें क्या?'

अपना सा मुंह लेकर रह गये शिवनाथ।............

हवाई अड्डे पर खड़े हाथ में दो हार लिये शिवनाथ बाबू बार-बार धोती-कुर्त्ते की सलवटें ठीक कर रहे थे। रह-रह कर उनकी दृष्टि ऊपर उठ जाती। मन ही मन कल्पना-चित्र बन रहे थे—"बहू के बाब्ड हेअर होंगे, फूलदार फ्राक, आदीश की बाँह में बाँह होगी—वह फूल उठे, उनका बेटा !........उनकी बहू.......।

अरे लो जहाज खड़ा हो गया। लोग भी उतरने लगे हैं। नहीं यह तो आदीश नहीं !.... यह भी नहीं !... यह भी शायद नहीं है ! दिखने भी तो कम लगा है। उन्होंने शीघ्रता से ऐनक के शीशे साफ किये। उछल पड़े—"यही अपना आदीश है—दो साल में कितना बड़ा हो गया है—कितना सुन्दर।" उन्होंने देखा—आदीश हँस कर उन्हें प्रणाम कर रहा था। प्रसन्नता में भर कर उन्होंने आशीर्वाद के लिये हाथ ऊपर उठा दिया। "बहू कहाँ है ? यहाँ तो कोई मेम नहीं। शायद इस आदीश के बच्चे ने ठट्ठा किया हो।" उन्होंने आँखें फाड़ कर आदीश के आगे-पीछे देखा—वही होगी ! ध्यान से देखा—सादी धोती, सिर पर आँचल, माँग भरी हुई....माथे पर जगमगाती बिंदी। शिवनाथ अविश्वास से भर उठे...... क्या यह है आदीश की पत्नी ? उन्होंने और पीछे देखा, परन्तु जहाज खाली हो चुका था। तभी आदीश ने उनकी ओर इशारा करके उस लड़की को कुछ कहा, तो उसने सलज्ज भाव से आँचल और आगे खेंच लिया। अब तो शिवनाथ के मन में कोई शङ्का न रह गई।

दोनों ने शिवनाथ के पाँव छुए। शिवनाथ ने भरे गले से दोनों के सिर पर हाथ फेरे।

आदीश के मित्रगण एकत्रित हो गये थे. वह उनसे मिलने को व्यग्र था। पिता से बोला—'पिता जी, यह है आपकी बहू वन्दना, मैं दोस्तों के साथ जा रहा हूँ।" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह चला गया।

वन्दना ने रुद्ध-कंठ से सिर झुका कर कहा–"पिता जी! आपकी शरण में आ गई हूँ, अब इस स्नेह से वञ्चित न करना।"

उसका सिर सहला कर शिवनाथ बोले—"तुम लक्ष्मी हो बेटी! अखण्ड सौभाग्यवती होवो!"

वन्दना न देखा—उनमें ससुर का भाव नहीं था। उसे अपने पिता की याद हो आई।

"तुम मेरे घर की देवी हो बेटी।"

वन्दना को नवनिधि मिल गई। आदीश के प्रेम में यह स्निग्धता नहीं थी—इस वृद्ध पर तो उसकी श्रद्धा उमड़ चली थी।

राह में शिवनाथ बोले—'तुम्हारी सास मन की बड़ी अच्छी है, उनकी बात का बुरा न मानना बेटी! हर माँ की तरह उसके मन में भी बेटे के ब्याह के लाख अरमान थे।"

"मैं उनकी बेटी हूँ—मुझे सब कुछ कहने का उनको अधिकार है। आपकी स्नेह छाया में सब हँस-हँस कर सह लूंगी।" तनिक रुक कर बोली– "परन्तु इस दृष्टि से तो मैं अपराधी हूँ बाबूजी।"

शिवनाथ तो ऐसी बहू पा हर्ष छिपा नहीं पा रहे थे। वन्दना सचमुच वन्दना है। वह तो उसे मेम समझ कर क्या ऊल-जलूल सोच रहे थे और कहाँ यह लक्ष्मी स्वरूप वन्दना। अपनी किसी भी परम्परा का उल्लंघन नहीं धोती, सिन्दूर, बिन्दी। रूज, पाऊडर लिपस्टिक कुछ भी नहीं। श्वेत परिधान में लिपटी बहू से अधिक बेटी पाकर शिवनाथ का कलेजा बल्लियों उछल रहा था।

घर पहुँच गये। घर क्या, अच्छी खासी हवेली थी। जाने क्यों वन्दना के पग काँपे, और घोर आशंका से भर गई वह। ऐसा सूनापन क्यों है? कोई भी बाहर स्वागत को नहीं। भावना सकुल हृदय भय से भर उठा।

डगमगाते पाँव से भीतर आई। आँगन में सुखदा सब्जी बीन रही थी—सिर उठाया शिवनाथ—लो आ भी गये। आदीश कहाँ गया ? क्यों नहीं ? अनिष्ट की आशङ्का ने उसे विचलित कर दिया। यह सिर झुकाये पीछे-पीछे कौन है ? अहा ! कैसी सौम्य मुखाकृति है —आँखों में कितना तेज है—कैसा लुभावना रूप है !

शिवनाथ ने कहा—"बेटी ! यह है तेरी सास, और सुखदा यह है अपनी बहू वन्दना।"

सुखदा को कानों पर विश्वास न हुआ। जिस वेशभूषा में सज्जित वधू को देखने की वह कल्पना कर रही थी, यह तो उससे सर्वथा भिन्न है।

सुखदा फिर कठोर हो गई—"यही है वह जिसने उसके आदीश को छीन लिया ?"

कोई अधिक मात्रा में, कोई कम में, सासें आधी सौतें बन जाती हैं। बुढ़ापा यौवन की तरङ्ग को सह नहीं पाता। यौवन का अल्हड़ मद उसके लिये असह्य हो जाता है—समस्त आक्रोष उमड़ पड़ता है। अपना अधिकार जाता देख, कौन चुप रह पाता है ?

वन्दना ने सास के चरण छुए, तो सुखदा ने न जाने कैसे स्वर में कहा—"भगवान तुम्हें सुबुद्धि दे।"

वन्दना को तनाव का आभास मिल गया। सुखदा के समीप ही बैठ गई वह। सुखदा ने कहा—"तू नहा ले, इतने मैं तेरे लिये खाना बना दू।"

सास को किसी भी मूल्य पर जीतने का निश्चय कर लिया वन्दना ने। बोली—"नहा तो लेती हूँ माँ ! पर खाना मिल कर बना लेंगे।"

वन्दना सामान ठीक से लगाने लगी। इसके पश्चात् हेमा की रसोई में चल दी। घर का हर भाग उसका जाना-पहिचाना था—

आदीश ने उसे सब के बारे में सब कुछ बता रखा था, तभी ऐसे लगता था, जैसे वह यहाँ पराई नहीं--युग-युग से यहीं की है।

"प्रणाम ! छोटी माँ !" रसोई बनाती हेमा से वन्दना ने कहा।

धीर, गम्भीर, सीधे स्वभाव की हेमा हाथ पोंछती बाहर आ गई। सहज बुद्धि ने उसे बता दिया कि यह आदीश की बहू है, वन्दना की पीठ पर हाथ फेर कर बोली—"भगवान तुम्हें सुखी रखे बेटी !"

वन्दना की आँख में मोती सा लहरा गया। हेमा सब समझ गई, सुखदा का विरोध उससे छिपा न था। बोली—'जीजी मन की बुरी नहीं, पर पता नहीं, कभी-कभी क्या हो जाता है उन्हें।"

"चुन्नी कहाँ है माँ ?" वन्दना ने बात बदल दी।

"उसका क्या ठीक बहू, यहीं गली में खेलती होगी।"

तभी चुन्नी आ गई—"भाभी !" कह कर वन्दना से चिपट गई। वन्दना को भोली सी चुन्नी बड़ी प्यारी लगी। सन्दूक खोल दस-बारह फ्राकें निकाल चुन्नी को दीं उसने। चुन्नी ने घर भर में शोर मचा दिया—"हमारी भाभी कितनी अच्छी हैं—कैसी बढ़िया-बढ़िया चीजें हमारे लिए लाई हैं !"

सुखदा सुन-सुन ऐंठती रही।

वन्दना सास का हाथ बटाने लगी।

"तुम वहाँ पढ़ती थी, तो तुम्हारा खर्च क्यों कर चलता था ?" सुखदा ने पूछा।

"कुछ तो सरकार देती थी, कुछ मैं नौकरी करती थी।"

"अब घर में कैद कैसे रहोगी ? अब नौकरी करने की इच्छा नहीं होगी क्या ?"

आलू छीलते वन्दना ने जरा हँस कर कहा, "अब क्यों करने

लगी ? अब क्यों इच्छा होने लगी ? अब तो अपने घर में अपने माँ-बाप के बीच आ गई हूँ।"

धीरे-धीरे वन्दना ने सारा काम संभाल लिया। सुखदा तो ठाकुर बाबा के आगे बैठी माला फेरा करती। वन्दना के लिये वह पत्थर ही बनी रही। गली-मुहल्ला बहू के गुण गाते न थकता। हेमा और फुआ सुखदा के भाग्य को सराहती।

उस दिन पहला कौर खाते ही सुखदा थू! थू!! कर उठ गई, "छि! दाल में नमक जहर पड़ा है।"

"अन्दाज़ा नहीं रहा, माँ !"

और सुखदा को चुप करना पड़ा।

सुखदा ने कई बार चाहा कि झगड़ा हो, वन्दना तू-तू मैं-मैं करे, और वह सबसे कहे कि वह तो पहिले ही कहती थी--विलायती बहू यहाँ नहीं चलेगी। परन्तु वन्दना अपराध न होते भी स्वीकार कर लेती और बात जहाँ की तहाँ खत्म हो जाती।

एक दिन वन्दना ने भूल से जूते रसोई के बिल्कुल सामने उतार दिये। क्रोध में सुखदा चिल्लाई—"तुम्हें तो घर-बार की बिल्कुल तमीज नहीं।"

"अब तक घर में रही कहाँ हूँ मैं माँ ?"

सुखदा भी जानती थी कि वन्दना अनाथ थी। अनाथाश्रम में ही पली। परिश्रम द्वारा सरकारी छात्रवृत्ति पा विलायत में शिक्षा प्राप्त कर रही थी।

वन्दना की बात में छिपे तथ्य को झुठला न पाई, कुनमुना कर रह गई।

× × ×

और आदीश तो स्वभाव का क्रोधी है। उसके काम में जरा देर हो जाये, तो घर भर को सिर पर उठा लेता है। धम-धम कर पैर पटकता हुआ घूम और कह रहा था—"यह घर है या भूतों का डेरा है ? अभी तक खाना नहीं बना। इस घर में तो जीना हराम है। घर में चीखो—चिल्लाओ, बाहर सारा दिन कोल्हू के बैल की तरह पिलो।"

वन्दना सास की पूजा का सामान धो रही थी, बोली—"क्यों क्रोध करते हो ? अभी तैयार हुआ जाता है।"

कोठरी से निकल मुँह बिचका कर सुखदा ने कहा—"अभी तक पूजा का सामान नहीं धुला ? खेल करती हो सारा दिन। आदीश क्या भूखा काम पर जायेगा ?" और स्वयं खाना बनाने लगी।

वन्दना ने सामान पूजाघर में रखा, बोली—"माँ, सामान धुल गया, भोजन भी बना जाता है बस।" सुखदा को ठेल शीघ्रता से भोजन बनाने लगी।

कितने ही अवसर आये, पर वन्दना ने हर बार धीरज से सास को परास्त कर दिया। उसके मन में एक दिन भी आदीश से ब्याह करने का पछतावा न हुआ, उल्टा सास-ससुर पर श्रद्धा होती कि उस अनाथ को जीवन भर को आश्रय दिया है। सोचती, "पिता जी कितना स्नेह करते हैं। माँ झिड़कती भी है तो अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। किसी का कोई होता है, तभी तो झिड़कता है।"

आदीश ने कई बार पूछा—"तुमको कोई कष्ट तो नहीं वन्दना ?"

तो वन्दना उसके चरणों को अपने अश्रुओं से भिगो देती—"कितना उपकार किया तुमने मेरा ! एक अनाथ को स्नेहमय माता-पिता प्रदान कर दिये हैं !"

आदीश की बुआ आ गई। पाँच बच्चे और पति—कहना क्या,

पूरी फौज थी। वन्दना पर और भी बोझ आ पड़ा। इधर वन्दना का शरीर दो तीन दिन से टूटा पड़ रहा था। हल्का-हल्का बुखार भी था शायद। आदीश से भी नहीं कहा। सोचा, सास कहीं यह न समझे कि बहाना बना पड़ रही है। सो बुखार में ही पिलती रहती। घर की नौकरानी उस की दशा देख कई बार रो पड़ती।

अब तक सुखदा किसी प्रकार स्वयं को रोके थी, परन्तु जबसे ननद आई, तो हृदय की भड़ास निकालने का साधन मिल गया। अपने दुर्भाग्य को बखानती रहती। ऐसी बहू पाना, भाग्य का दोष नहीं तो किसका दोष है भला? औलाद को दुनिया रोती है, सो क्या इस लिए? और ननद ने तो अपना स्वार्थ देखना था। पति की नौकरी छूट गई थी—किसी में रार डलवा दो-चार महीने निकल जायें, तो और क्या चाहिये? उसने सुखदा के कान भरने शुरू कर दिये।

वन्दना टूट रही थी। एक दिन ननद ने बिन बात के महाभारत मचा दिया। ननद के बच्चों के लिए पुलाव थोड़ा रह गया था। बच्चे थे जिद्दी, हठ ठान लिया।

ननद ने कोहराम मचा दिया—"बहू! चार दिन को तुम्हारे यहाँ आ ही गये, तो यूँ अपमान न करो। दुःख-सुख सब पर पड़ता है। वैसे ही कह दो चले जायेंगे।"

ऊपर से सुखदा बोली—"बीबी, तुम दिल छोटा क्यों करती हो? तुम्हारा घर-बार है, तुम नहीं आवोगी, तो कौन आवेगा? यह कौन है कुछ कहने वाली? इसका क्या अधिकार है?"

काम का भार, बुखार का जोर वन्दना निश्चल, अवाक् प्रस्तर प्रतिमा की तरह हो गई। आज ढह गया वन्दना का अभिमान, धैर्य का बाँध टूट गया! आह! इतनी सेवा का ऐसा फल! ठीक है, उसके भाग्य में यदि माता-पिता का सुख होता, तो वह अनाथ ही क्यों होती?

कांपते हाथों से उसने चौका समेटा। आदीश अभी तक नहीं आया था, इधर वन्दना में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जाकर बिस्तर पर पड़ रहे, सो वहीं बैठी रही। वन्दना को अपने ऊपर ही वितृष्णा सी होने लगी। उसके कारण ही इस घर की शान्ति जाती रही। वह अशान्ति का कारण बन कर भी क्यों यहीं बनी है? चली क्यों नहीं जाती कहीं? इतने बड़े संसार में कहीं तो ठौर ठिकाना मिल ही रहेगा। आदीश को एक बार जी भर कर देख ले, बस! दूसरे ही क्षण सोचा, 'छि! ऐसा भी कहीं होता है? कहीं हो सकता है? आदीश का प्रतिरूप उसके गर्भ में है, न उसे ऐसा नहीं सोचना चाहिये।

कोई दुस्वप्न देख सुखदा की नींद उचट गई। रसोई घर उसकी कोठरी के ठीक सामने पड़ता है, वहाँ प्रकाश देख वह चौंक कर उठ बैठी। अब तक बत्ती.... ! वन्दना कहीं आदीश के कान तो नहीं भर रही? वह उठ कर दबे पाँव आई, देखा--दिवार का सहारा लिये वन्दना बैठी-बैठी ऊँघ गई थी। विषाद के चिह्न उसके मुख-मण्डल पर झलक रहे थे। वह देवी का सा रूप!

सुखदा का जी जाने क्यों धक् से रह गया।

उसने ग़ौर से देखा—उसकी बहू में इतना रूप! ज्योति अंग-अंग से फूट रही है। क्रोध और घृणा में मनुष्य अन्धा हो जाता है। इन्हीं मनोभावों के वशीभूत हुई सुखदा ने वन्दना को कभी आँख भर देखा तक न था। उसके गुणों पर तो दृष्टि क्या जानी थी—गुण भी अवगुण नजर आते थे। सुखदा अवचेतन में कब से वन्दना से परास्त हो चुकी थी उससे प्रेम भी करती थी, पर उसका चेतन इससे अनभिज्ञ था।

सुखदा बचपन से ही अनिष्ट-भीरू थी, धर्म-भीरू थी, उसकी अन्तरात्मा एकदम ग्लानि से भर उठी—इस अनाथ बच्ची को उसने इतना कष्ट दिया--भगवान जाने, कितना बड़ा दण्ड मिलेगा उसे!

पाया क्या इसने ? सारा दिन मरने-खपने के पश्चात् मेरे ताने-मेहने ! आदीश सौ बार सामने बोला होगा, परन्तु यह तो कभी भूल से भी एक शब्द मुँह पर नहीं लाई।

एक बारगी ननद पर उसे खूब क्रोध हो आया। अरे यही ननद है न जिसने उसमें और शिवनाथ में फूट डलवाने में क्या कसर उठा रखी थी ! कौन भूली वह इसे। अपना मतलब गाँठने को हमारे घर में क्लेष डलवाती है। पर ननद का क्या, कसूर तो उसका है--उसकी ही आँखों पर पट्टी बंधी थी, जो इस देवी सरूपा बहू को न पहचाना। द्वेष में वही अन्धी हो गई थी।

स्नेह का सागर अपने पूर्ण वेग से उमड़ आया—धीरे से वन्दना का माथा सहलाया, तो चौंक पड़ी ! अरे इसे तो तेज ताप है। वन्दना को हिला कर बोली—"उठ बेटी, चल कर लेट जा। तेरी तबीयत ठीक नहीं।"

वन्दना जाने क्या सपना देख रही थी, चिल्ला पड़ी! सुखदा को सामने पा थर्रा उठी, बोली—"माँ ! मेरा कोई दोष नहीं, मेरा कोई अपराध नहीं, सच मानो !"

सुखदा मन की बुरी नहीं थी। रही-सही मैल भी धुल गई—रो पड़ी—"तेरा सचमुच कोई अपराध नहीं बेटी अपराध तो मेरा था। यह मेरे दुर्भाग्य का दोष है, जो मैं तुझे पहचान नहीं सकी। भगवान जो दण्ड देंगे वह भुगत लूँगी, पर तू तू.......।"

अविश्वास से पहले तो क्षण भर को वन्दना मानों जड़ हो गई इसके पश्चात् वास्तविकता समझ आनन्दातिरेक में भर उठी, और सुखदा की बात बीच में ही काट कर बोली—"ऐसा न कहो, माँ ! तुम मेरी माँ हो। जो भी कहना चाहो, कह सकती हो—यह तुम्हारा

अधिकार होता है।" और मन ही मन आदीश की बुआ का धन्यवाद दे उठी, जिसके कारण उसे माँ मिल गई।

नेह के इस तट पर हृदय का समस्त कल्मष धुल गया।

माँ ने बेटी पा ली, और बेटी ने माँ। दोनों ही निज सौभाग्य के उपलक्ष्य में मन ही मन भगवान का प्रसाद चढ़ाने की सोच रही थीं।

ये कीड़े—यह नागपाश !

गोधूलि घिर आई थी, दीये-बत्ती की बेला हो गयी थी। हर घर से धुआँ उठ रहा था, परन्तु गंगा सुमरनी लिये बैठी थी। मन लड़की में अटका था। अभी तक नहीं आई, यह लच्छन हुआ करते हैं शरीफ लड़कियों के ? माना नौकरी करती है तो अहसान क्या है ? दुनिया की छोकरियाँ करती हैं यह कुछ नवेली तो नहीं करती ! परन्तु यह आधी-आधी रात तक गायब रहने का मतलब क्या है ? मैं पढ़ी-लिखी न सही, पर इतना तो समझती ही हूँ कि कौन से दफ्तर बत्ती जले तक खुले रहते हैं ?

तभी तन्नी और टीलू उछलते कूदते आन पहुँचे। टीलू तो जन्म का ही नटखट है। हाथ चलते हैं–पाँव चलते हैं और जीभ का तो कहना ही क्या ? आते ही बोला—"मां, पेट में जोर की भूख लगी है।"

गंगा तो तैयार ही थी, छूटते ही बोली –"मुँह-झौंसे, इस पेट में भूख की आग ही लगती है सारा दिन। गेहूँ की बोरियाँ भरी रखी हैं न घर में। ऐसी औलाद तो होते ही मर जाये ! भाग फूटे थे मेरे—औलाद हुई, तो वह आला ! पति है तो पागल होकर बैठ गया।"

टीलू इतना लम्बा-चौड़ा उत्तर सुनने को तैयार न था, उसका मुँह छोटा हो गया। तन्नी टीलू से दो साल छोटी थी, चुप-चुप समझदार। टीलू हाथ-पाँव चलाने लगा, तो वह चुपचाप खटोले पर बैठ अपनी चीथड़ों की गुड़िया से खेलने लगी।

माँ का बोलना जारी था, और टीलू का रोना।

तभी द्वार खुला, श्वेत धोती में लिपटी एक बीस वर्षीय सौम्य-कुमारी ने प्रवेश किया। धोती कई स्थानों से टँकी होने पर भी साफ़ थी। उसे देख गंगा की भवें तन गईं। टीलू गला फाड़-फाड़ कर रोने लगा। तन्नी हाथ की गुड़िया रखकर आशा भरी दृष्टि से उसे देखने लगी।

आगन्तुका ने बटुए को रख शीघ्रता से टीलू को गोद में उठा लिया—"चुप चुप भैया ! रोया नहीं करते। लो हम तो तुम्हारे लिए चाकलेट लाये हैं, तुम हो कि रोये जा रहे हो।"

टीलू एक दम चुप कर गया। इसने बटुए से चाकलेट निकाल दोनों बच्चों में बराबर बाँट दी। वह हँसते-खेलते भाग गये। एक शान्ति की श्वास ली उसने। मुख पर थकन के चिह्न प्रकट हो आये।

गंगा चूल्हा जलाने लगी। बुड़-बुड़ा रही थी—"अब आठ बजे दफ्तर बंद होता है। यों रात-रात गये तक तेरा आवारा घूमना मुझसे

तो सहा नहीं जाता। कल हाथ भी पीले करने होंगे, तो कोई शरीफ़-ज़ादा कैसे मानेगा? तू इन आदतों से बाज़ आजा, मुझसे तो यह सहा नहीं जाता।"

इन बातों को सुना, तो उसके मुँह पर एक पर्त कालिमा की आई, और चली गई। एक शीतल उच्छ्वास हृदय से उठी, परन्तु होठों की कारा से बाहर न आ सकी। गहरी काली आँखों में व्यथा उभरी, होठों पर कसाव पैदा हुआ, पर क्षण ही भर पीछे वह निर्विकार हो गई। सारा दिन आफिस में कलम घिसाने के पीछे घर में दो स्नेह भरे शब्दों के स्थान पर यह गालियाँ ·· ये ताने! वह खाना खाने बैठ गई। रूखी-सूखी दो रोटियाँ कठिनता से भीतर फेंकी— उसका मुँह तिक्त हो गया। हाथ धो मीता अपने कमरे में चली आई।

कोठरी का द्वार बन्द करने को ही थी कि कुछ याद आ गया। दूसरे दालान में वह आई, तो उसकी आँखें भर आई। बढ़ी दाढ़ी, पथराई आँखें, मुँह से टपकती राल ·· ·· फटा सा कम्बल लपेटे! यह उसके पिता हैं। घने मैले बालों में उनका चेहरा कैसा करुणाजनक दीखता है! कुछ साल पहले की पिता की मूर्ति उसकी आँखों में घूम गई!···· ··खद्दर के कुर्ते-पायजामे में कैसे रोबदार लगते थे। हेड क्लर्क थे, जो कुछ कमाते, उसमें घर का अच्छा भला गुजर हो जाता था। बच्चे खुश थे—मीता भी सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहन बुलबुल सी चहकती स्कूल जाती। ·······सपना टूट गया। सारा दायित्व मीता के दुर्बल कन्धों पर आ पड़ा! पिता एक दुर्घटना में पागल हो गये थे। कहने को तो बड़ा भाई भी है········! मीता ने हसना चाहा, पर उसके होंठ हँसना भूल गये थे, सो एक तनाव सा पड़कर रह गया। भाई को या तो पहलवानी का शौक था या तोता मैना, अलिफ लैला के किस्सों का। दो जून खाने को बढ़िया भोजन चाहिये, और बकने के लिये गालियाँ। इस कसीले वातावरण के बोझ से मीता टूट रही है—घुट रही है·······और खोखली हुई जा रही है। अब तो कभी-कभी खाँसी

का दौरा भी उठ आता है। ·······पिता के खखारने पर मीता की विचारधारा टूट गई। रजाई उठा पिता को ओढ़ानी चाही, तो वह एकाएक बोल उठे—'सर ! आप फिक्र न करें, यह काम शाम पाँच बजे तक हो जायगा।"

मीता ने कठिनाई से अपनी रुलाई रोकी—वह भाग कर अपनी कोठरी में आ गई छत की कड़ियाँ गिनते-गिनते जब वह थक गई, तो जाने कब नींद उसे अपने सुनहले पङ्खों पर ले उड़ी। मीता सो गई, और उसके साथ ही सो गई कितनी ही बिलबिलाती वेदनाएँ। मन में मचलती कितनी ही कामनाएँ भी सपनों की दुनियाँ में सतरंगी महल बनाने लगीं। जग सो गया ····· मीता भी सो गई।

एकाएक मीता हड़बड़ा कर उठ कर खड़ी हो गई ···· किवाड़ों को कोई बेदर्दी से पीट रहा था। ढिबरी जला कर द्वार खोला, तो अजीत था—उसका बड़ा भाई। क्रोध से आँखें अंगारा बन गई थीं। एक बार समूचा ही निगल जाने वाली दृष्टि उसने मीता पर डाली, और अन्दर आ गया। किवाड़ में साँकल डाल, मीता भी पीछे-पीछे चली आई।

"रोटी दे।" अजीत के स्वर में आज्ञा थी। उसके चिघाड़ने की आवाज सुन टीलू—तन्नी ने जरा सी रजाई उठा कर देखा, और दुबक गये।

मीता की जान सूख गई डिब्बा खाली था। अजीत कपड़े बदल चुका था।

"मेरे लिये दो सूखी नहीं और खुद खुद हूँ ! सब जानता हूँ, कुछ भी भूला नहीं मुझ से।" अजीत ने कहा।

मीता का हृदय तिरस्कार से फटने लगा। उसका जी चाहा, चीखकर कहे—'आखिर म मुझे समझते क्या हो ? यह सजधज,

रोटी-पानी मेरी ही कमाई का है—फिर यह रौब कैसा ? पोर पोर पीड़ा से टूटने लगता था सारा दिन कलम घिसाते घिसाते। खाली पहलवानी करना आसान है। परन्तु उसने सब पी लिया। दायित्व तो उसी का है जो समझे। अपनी कोठरी में चली गई वह।

यह था मीता का जीवन। एक युवती का जीवन। उसी युवती का जिसके मन में इस विषय में लालसाओं के अम्बार होने चाहिये थे। मन, जिसे उमंगों से खिलना चाहिये, दायित्व ने बे तरह प्रभाहीन कर दिया था, ज्यों पाले का मारा पुष्प। मेंहदी रचाने योग्य हाथ हरदम रेमिंगटन पर टूट रहे थे। इस दम घोटू वातावरण ने मीता को पीस के रख दिया था।.........

इधर कई दिनों से माँ भी बीमार थी—अब घरे काम-धंधेलें का भी बोझ मीता पर ही आ पड़ा था।

उस दिन घर के काम-काज से निबट कर मीता शीघ्रता से पग बढ़ाती आफिस जा रही थी। उसका मस्तिष्क उलझा था—वह रोज़ ही लेट हो जाती है—साहब कई बार नौकरी से अलग करने की धमकी दे चुके हैं। यदि इस धमकी को सच ही कार्यरूप में परिणत कर दिया गया, तब क्या होगा ?......घर कैसे चलेगा ? ....बच्चों की फीसों का क्या बनेगा ?... पिता की दवा कहाँ से आयेगी ? पर वह भी क्या करे ? टाँगें तो टाँगें हैं, एक दो मील का फासला तय करना होता है। जाने को तो ट्राम या बस में भी जा सकती है, पर वह पैसे जो वहाँ लगेंगे, कहीं और भी तो खर्च हो सकते हैं।....... मीता की गति तीव्र हो गई।

एक कार उसके पास आकर रुक गई। कार में से किसी ने पुकारा—"मीता, ठहरो न जरा।"

मीता ठिठक कर रुक गई। आँखों में उल्लास की एक आभा सी आ गई।

"क्या बहुत जल्दी है ? इतनी जल्दी थी, तो टैक्सी में चली जाती। आओ, मैं पहुँचा आता हूँ……अरे, खड़ी क्या हो ? आओ न !" मधुर ने कार का दरवाजा खोलते हुए कहा।

मीता चुप रही।

मधुर ने बाँह से पकड़ कर अपने बराबर बिठा लिया। भयभीत हो मीता ने चारों ओर देखा--कहीं देख तो नहीं लिया किसी ने ?

मीता अपनी धोती के पेबन्द छिपाने की चेष्टा कर रही थी। पर मधुर की दृष्टि से वह छिपा न रहा। एक बड़ी सी कपड़े की दुकान के आगे कार रोक दी। उतर कर बोला—"आओ।"

"पर……"

"पर-वर कुछ नहीं। उतरो, जल्दी करो।"

क्या करती मीता ? मधुर तब तक दो साड़ियाँ खरीद चुका था।

"यह क्या करते हो मधुर, तुम ?"

एक लम्बी साँस खेंचकर मधुर ने कहा—"आखिर तुम यह सब कब समझोगी ? मैं क्या तुम्हारा नहीं ? फिर ऐसा कैसे कह देती हो ? इतने बेअन्त रुपयों में मैं खेलूँ, और तू ‥ तू यों दिन काटे। यह सब नहीं सहा जायगा मीता मुझसे, न, मुझसे नहीं सहा जाता।"

"मधुर !" मीता का गला भर आया।

"हाँ मीता, तुझे इस तरह कलम घिसते देख, सच मानों ऐसा जी करता है ‥ जी करता है आग लगा दूं इस सारे धन को। यह धन होता किस दिन के लिये है आख़िर ? क्यों मिटा रही हो अपने को इस तरह ? मेरी मानों, मीता ! अपने को यों ख़त्म न करो—दूसरों

का करो सही, पर अपना ध्यान रख कर। उस घुटन में, उस गन्दे वातावरण में, तुम खत्म हो रही हो। तुम अपना भी ध्यान करो कुछ।"

"तुम तो यों ही परेशान होते हो मधुर ! तुम कहते हो—तुम को यह शिकायत है कि मैं अपना ध्यान नहीं रखती, और घर वालों को शिकायत है कि मैं बस अपना ही ध्यान रखती हूँ। मीता मरेगी नहीं, मधुर—मीता मर नहीं सकती।"

"न....न .. ऐसा मत कहो।" मधुर ने मीता के मुँह पर हाथ रख दिया—"मीता ! मैं क्या करूँ ? मेरा क्या बनेगा ? .. तुम एक बार, केवल एक बार, हाँ ! हाँ ! कहो मीता !—मैं तुम्हारे सारे परिवार का बोझ सम्भालने को तैयार हूँ। तुम्हारी माँ के पाँव पकड़ लूँगा—तुम्हारे छोटे बहन भाई मेरे बच्चों की तरह होंगे—तुम्हारे पिता मेरे पिता होंगे-तुम हाँ भर कह दो-तुम्हारे सारे कुटुम्ब का भार मैं अपने ऊपर ले लूँगा, मीता ?....बस तुम केवल हाँ कह दो।"

कार रुक गई थी—मीता का दफ्तर आ गया। मीता को जोर से रुलाई हो आ रही थी। उसे दबाया तो खाँसी उठ गई मधुर ने कठिनता से उसे सम्भाला।

आश्वस्त हो मीता भीतर चल दी। मधुर उसे जाती को देखता रहा।

मीता सोच रही थी यह मधुर कौन है उसका ? कोई भी तो नहीं। मेल मिलाप का एक सूत्र स्नेह-सूत्र बन गया है। दो वर्ष पूर्व मीता उसी सड़क पर चली जा रही थी—बेखबर—बेसुध ! माँ ने उस दिन भी कुछ गर्म सख्त कही थी—यह बेहद दुःखी थी। मधुर की कार के नीचे आती-आती बची। तब से जाने क्या पाया मधुर ने उसमें कि उसके समीप आता चला गया—उसके हृदय ने भी मधुर को अपना सगा मान लिया। मधुर धन वाला है। उसके पिता बहुत सा रुपया

छोड़ गये हैं। काम-काज की देखभाल करता है बस। दिल्ली में रहता है—मीता को मिलने जब तब चला आता है। दिल्ली मेरठ के बीच अन्तर ही कितना है ? वैसे भी, अन्तर तो दिल का हुआ करता है।

सांझ को काम ख़त्म करके मीता बाहर आई, तो थक कर चूर हो गई थी—पाँव कुछ बोझिल से हो रहे थे। मधुर घन्टे भर से उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। मीता को देखते ही उसने जोर से आवाज़ दी—"मीता !" मधुर के हाथ में एक डिब्बा था, उसे मीता को देते हुए बोला—"लगता है अब तेरे से मेरी खूब लड़ाई होगी। सेहत का यह ध्यान रखती हो—अपने लिए नहीं, तो किसी के लिए ही सही, जिसे तुम्हें इस हालत में देखकर हद से ज्यादा तकलीफ होती है, अपना ख्याल रखा करो। लो, लो यह दवा है। इतवार को स्टेशन पर मिलना मुझे किसी अच्छे से डाक्टर को दिखाऊँगा तुम्हें, तब तक के लिए यह दवा पकड़ो। आओ अब तुम्हें घर पहुँचा दूँ।"

मधुर के प्रेम के आगे मीता अपने को बहुत ही दुर्बल पाती। उसकी कोई भी बात टालने की शक्ति उसमें नहीं थी—इतना बाँध लिया था मधुर के स्नेह पाश ने उसे।

मीता ने कार घर से दूर ही रुकवा ली। जिस बात का डर था वही हुई—अभी वह कार से उतरने भी न पाई थी कि तन्नी-टीलू भागते हुए आ गये। दोनों के हाथों में चनाजोर गर्म की पुड़ियाँ थीं। टीलू भागकर मीता से लिपट गया—'दीदी, तुम किसकी मोटर में आई हो ? यह साहब कौन हैं ? क्या यह मोटर छू कर देख लूँ ? यह मोटर बहुत मँहगी आई होगी दीदी, पर इसका रंग काला क्यों है ? लाल क्यों नहीं ?"

ढेर सारे सवाल एक साथ ही पूछ डाले उसने। उसकी बाल-सुलभ उत्सुकता देख मधुर को बड़ा प्यार आया उस पर—उसे गोद में उठा तन्नी के सिर पर बड़े ही प्यार से हाथ फेरते मधुर ने कहा—

27959

"अच्छा बच्चो, मोटर की सैर करोगे क्या ?" मधुर के प्रश्न का उत्तर देने की जगह वह उछल कर कार में चढ़ गये। मधुर बच्चों को घुमाने ले गया।

मीता का दिल जोर-जोर से धड़कने लगा ! आज जाने क्या होगा ? तन्नी-टीलू सब कह देंगे। मधुर समझता क्यों नहीं ? वह सोचता है कि प्यार से सबको वश में कर लेगा, पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन पर प्यार का भी कोई असर नहीं होता। ऐसे ही मेरे घर वाले हैं। मधुर, किस लिए नाली में हाथ डालते हो ? तुम्हें मुझ सी बहुत लड़कियाँ मिल जायँगी घर-घर में मेरे जैसी मीताओं की चाहें सिसक रही हैं—उन्हें क्यों नहीं अपना लेते मधुर ? यह मीता नाली का उलीच है मधुर ! यह मीता तुम्हारे योग्य नहीं—" वह चीत्कार कर उठी।

जिसकी उसे आशंका थी, वही हुआ। तन्नी और टीलू ने घर आते ही गंगा को सारी रिपोर्ट दे दी। तालियाँ बजा-बजा वह खुश हो रहे थे—'ओ माँ, आज दीदी मोटर में आई थी, खूब गद्देदार मोटर में। वह बाबू बड़ा अच्छा है, हमें भी खूब सैर कराई। जी भर कर मिठाई खिलाई। अहा जी ! अगले हफ्ते फिर वह आयेगा।"

गंगा उबल पड़ी। उसके मुँह से अशोभनीय गालियाँ निकलने लगीं जो एक सम्भ्रांत कुल की महिला के मुँह से बड़ी विचित्र सी लग रही थीं।—"जाने किन-किन के साथ मोटरों में उड़ी फिरती है। दफ़्तर का तो एक बहाना है—यह पाप की कमाई से हमें भी अपवित्र कर रही है। यह साड़ियाँ, यह दवाईयों के डिब्बे आखिर आते कहाँ से हैं ?"

उस दिन मीता की आँख से एक भी आँसू न बहा। उसकी अन्तरात्मा ने उस दिन प्रथम विद्रोह किया। इन्हीं कीड़ों के लिए वह मरती-खपती है ! दो साल से मधुर के प्रस्तावों को निठुरता के साथ

ठुकराती आ रही है। मधुर से उसका विवाह हो जाने के पश्चात् इन लोगों का क्या होगा ? मधुर चाहे इन सबका भार उठाने को तैयार है, परन्तु नहीं, इनकी छाया भी वह मधुर पर पड़ने देने को तैयार नहीं।

आखिर मीता के त्याग का····उसके बलिदान का क्या मूल्य है ?·····

मीता के जीवन में मधुर एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति था। उसी के स्नेह के सहारे मीता अपमानों के कटु घोलों को धीरता से पी जाती। पर··· वह दिन तो जैसे प्रलय का दिन था—मीता की आँखों में, न जाने, अनजाना सा क्या झाँक रहा था। उसके साहस, —उसके धैर्य ने जवाब दे दिया था। रोज-रोज बदमाश, आवारा कहलाने की तो वह अभ्यस्त हो चुकी है, किन्तु आज माँ ने और अजीत ने मिल कर उसे बुरी तरह पीटा है, एक पड़ौसिन आकर कान भर गई थी—"एक कार वाले के साथ रोज़ होटल सिनेमा में जाती है— सच मानो, उस दिन कुन्ता के बाबू ने अपनी आँखों से देखा था।"

माँ ने कोहराम मचा दिया था—"हाय ! तू मर गई होती, तो यह दिन काहे को देखना पड़ता। तूने हमें कहीं मुँह दिखाने लायक़ नहीं छोड़ा।"

भाई ने गन्दी गालियाँ देकर उसे पीटा था।

बिना कुछ खाये-पिये ही वह कोठरी का द्वार बन्द किये पड़ी रही—आफ़िस भी न गई। वह अपमान उसे भूलता न था। सन्ध्या घिर आई थी—वह वैसे ही मुर्दा सी पड़ी रही। उसका जी चाह रहा था कि वह जी भर कर रोले—तो शायद वह अपमान को भूल जाये ·········आँसुओं में हृदय का विद्रोह बह जाये। आँखें सूखे मरूस्थल सी उजाड़ पड़ी थीं। सारे घर में से उसे किसी ने एक शब्द भी सहानुभूति

का न कहा। पिता से तो गिला ही न था। उन नन्हे-नन्हे बहन-भाई ने भी दीदी को न पूछा।

कितनी ही देर वह दुविधा में पड़ी तड़पती रही। अन्त में उसके हृदय ने निश्चय कर लिया। उस समय शाम के आठ बज चुके थे—उसने उठ कर धोती बदली, और चुपचाप बाहर गई। माँ ने देखा—पूछना चाहा, पर उसकी कठोर मुद्रा देख हौसला न पड़ा।

पन्द्रह मिनट चलने पर मीता पब्लिक-काल आफिस पर पहुँची। मधुर के नाम काल बुक की।

मधुर हड़बड़ा कर बोला "कौन? मीता? इस समय—इतनी घबराई हुई क्यों हो?"

"मधुर तुम एकदम यहाँ पहुँचो।"

"कुशल तो है? अभी कल ही तो मिला था।"

"हाँ मधुर, तुम जितनी जल्दी हो पहुँचो। मैं रात को बारह बजे स्टेशन पर तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी। कल देहली में हम शादी कर लेंगे।"

"क्या कहा मीता? सो तो नहीं रही हो? बेहोश तो नहीं? सच तो कह रही हो? कहीं मैं सपना तो नहीं देख रहा—एक बार फिर कहो, मैं पागल हो रहा हूँ।"

मीता हँस पड़ी—"सच कह रही हूँ मधुर, पहुँच जाना। मुझे दुःख है, मैंने इतने दिन तुम्हारी बात नहीं मानी।"

चोंगा रख दिया मीता ने। उसे लगा, एक साथ सैंकड़ों बिच्छुओं ने उसे डंक मारा हो। क्यों डूब रहा है उसका जी?········ आध घन्टे में मीता घर पहुँच गई।

माँ ने कहा—"रोटी खाले।"

"भूख नहीं।" मीता का उत्तर सरल होने पर भी उपेक्षाभाव छिपाने में असमर्थ था।

टीलू-तन्नी ने आग्रह किया—"दीदी, कहानी सुना।"

"मुझे तंग न करो—सो रहो जाकर।" मीता के इस कंठ-स्वर से बच्चे अपरिचित थे—वह टल गये।

कुछ देर पीछे अजीत ने आकर कहा—ऐ मीता रोटी दे, भूख लगी है।"

"भूख लगी है, तो क्या अहसान है मुझ पर ? तुम्हारे भी दो हाथ हैं, लेकर खा सकते हो।"

मीता का उत्तर सुन अजीत हक्का-बक्का रह गया।"

घड़ी ने दस बजाये। मीता का अंग-अंग दुर्बल हो गया—उसका दिल बैठने लगा। अपने ही साँस लेने से उसे भय होने लगा। वह बारह बजने की प्रतीक्षा करने लगी। घड़ी की टिक-टिक से अधिक उसे अपने दिल की धड़कन सुन रही थी। साढ़े ग्यारह बजे, तो वह खड़ी हो गई—कागज़ पर दो शब्द लिखे—'माँ ! मैं थक गई थी मुझे क्षमा करना।" छिः यह भी कोई बात बनी—उसने कागज़ फाड़ डाला। उसकी टाँगें बुरी तरह काँप रही थीं। क्या करने जा रही है वह ?

सुबह होगी ··· ···माँ ! माँ फिर भी माँ है। क्या बीतेगी उसके दिल पर ? बहन-भाईयों को कौन रोटी देगा ? तन्नी-टीलू का नाम स्कूल से कट जायेगा, जब फीस न पहुँचेगी। कौन चाकलेट लाकर देगा बच्चों को ? और अजीत ! ··· उसका क्या बनेगा ? उसे तो दिन में चार बार रोटी चाहिये—कहाँ से आयेंगी रोटियाँ ? आदमी को तो बैठ कर रोते हैं, पर रिज़्क को खड़े होकर। किन्तु ······ यह सब उसके अपने होकर भी उसके दुश्मन हैं। दिन रात की चखचख से छुट्टी मिल

जायगी। उसे क्या, चाहे जो गुजरे इन पर। आप मरे, जग प्रलय। वह तो सुखों में खेलेगी।

आत्मा ने पूछा—"क्या अपना सुख ही सब कुछ है ?"

मन ने कहा—"जी है, तो जहान है।"

उसका सिर घूमने लगा—अनभ्यस्त पाँव डगमगाने लगे। मधुर उसकी प्रतीक्षा कर रहा होगा—मीता ने अपने को सम्भाला। कोठियाँ कारें वह मधुर ! एक सुखद कल्पना ने परिवार की ममता को हरा दिया। कुंडी खोल ली उसने। पसीने-पसीने हो गई। चेतना खोने सी लगी·······दीवार का सहारा लिया उसने। पन्द्रह मिनट तक नेत्र मूँदे खड़ी रही।

"सर ? आप फ़िक्र न करें—सारा काम शाम के पाँच बजे तक खत्म हो जायगा।" मीता को अपने पागल बाप का स्वर सुनाई दिया—"सर ! कल मेरी प्यारी बेटी मीता का जन्म दिन है—मुझे कल की छुट्टी चाहिए। आप भी आना सर ! गरीबों के घर !

बाँध टूट गया—मीता की आँखों से आँसू बह चले। हिचकी बँध गई। वह भाग कर भीतर आ गई। जनवरी की सरदी में भी उसका पागल बाप नङ्गा बैठा, अपने आप बोल रहा था। पागल पिता को लिपट मीता फूट-फूट कर रो पड़ी। वह बिलख पड़ी—हाँ बापू ! तुम बताओ, मैं क्या करूँ ? तुम तो मुझे समझाया करते थे। अपना हाथ मेरे सिर पर रख सब व्यथा हर लिया करते थे। आज भी मुझे समझाओ बाबा ! मेरी पीड़ा की ·····! देखो, तुम्हारी लाडली बेटी की क्या दशा करदी, सबने मिलकर। यह वातावरण विषाक्त है बाबा ! यह ज़हर मुझे मार डालेगा। यह कीड़े हैं बाबा, मैं इन्हें छोड़कर चली थी, पर यह नागपाश है, जिसको तोड़ना कितना मुश्किल है। मैं क्या करूँ बाबा ?·····

रात ढ़लती रही—मीता का हृदय कराहता रहा—"ये कीड़े —यह नागपाश ! आह, बाबा ? इन्हें मैं छोड़ नहीं सकती…… इस नागपाश को तोड़ नहीं सकती ……!"

दूर स्टेशन पर प्रतीक्षातुर मधुर बार-बार घड़ी देख रहा था।

परख

काम-धाम मुका—नन्हे को चुप कराते गीता परेश के कमरे में आ गई। खीझ कर बोली—"कैसे हठी बच्चे हैं, टें-टें करने लगते हैं तो चुप करने का नाम नहीं लेते।" और चट से नन्हे के एक चपत जड़ दी।

हाथ की किताब टेबल पर रख उठ खड़ा हुआ परेश। गीता से नन्हे को पकड़ बहलाने का प्रयत्न करने लगा। नन्हा हँसने लगा, फिर सो गया। परेश ने गीता की गोद में उसे लौटा कर कहा—"लो हो गया चुप। तुम तो यूं ही अपना दिल जलाया करती हो। भई बच्चा है, बच्चे तो हठ किया ही करते हैं।"

गीता ने इस बात को अनसुनी करके कहा—"तुम्हें पता है क्या, परसों बीना जीजी आ रही हैं।"

अतीव उत्कंठा से मुन्नी ने कहा—"मम्मी, इला भी आएगी ?"

परेश तब फिर किताब में खो गया था। उसका ध्यान गीता की बात पर नहीं था। गीता ने तीखे स्वर में कहा—'परसों बीना जीजी आ रही हैं।"

अन्यमनस्क सा हो परेश ने 'अच्छा' भर कह दिया। गीता कुण्ठित हो गई—"तुम को जीजी के आने की खुशी नहीं शायद ?"

चौंक कर परेश बोला -"नहीं, नहीं, ऐसा क्यों सोचती हो। तुम्हारी जीजी आयेंगी, तो अच्छा ही रहेगा। रौनक़ बढ़ जायेगी।" और एक स्नेह भरी दृष्टि गीता पर ड़ाली।

सुकुमार, कोमल गीता के लिये इतना ही बहुत था। भीगे कंठ से उसने कहा—"मन रखने की बात करते हो परेश। तुम मेरी खुशी में खुश नहीं। यह सब तुमको अच्छा नहीं न लगता।

परेश जो लड़कपन से गंभीर स्वभाव का था, कुछ न बोला।

वह फिर बोली—"वह आ ही कब रही थीं ? यह तो मैंने पचासों बार लिखा—कहलवाया, तब कहीं मानी हैं। घर के स्वामी की जब इच्छा न हो, तब मेरा क्या बस है ?"

"मैंने ऐसा तो कभी नहीं कहा। यह दुराव की बात मत करो, यह घर तुम्हारा है। तुम्हे अधिकार है जो चाहो करो।"

गीता इतनी भोली भावुक है कि जितनी जल्दी रूठ जाती है, उतनी जल्दी मान भी जाती है। आत्मीयता से भर गई वह परेश की बात पर। उत्साह से बोली—"जीजी के लिये बड़ा वाला कमरा ठीक करना होगा। उनके बच्चे दूध पीते हैं, तुम गवाले को आज कहलवा दो कि दो सेर दूध ज्यादा दे जाया करे।"

Sri Pratap Singh Library Srinagar

परेश ने सिर हिला दिया।

गीता फिर चिढ़ गई—"तुम्हारी इसी बात पर तो मन जल जाता है।"

"ऐसी बात नहीं। सोच रहा हूँ, तू कितनी भोली है। इस जग में अपना तो कोई भी नहीं—सब कहने भर की बातें होती हैं। यह तो धन के लोभी भँवरे हैं गीता, इनमें अपनेपन की आग कहाँ?" दार्शनिक सा बन गया परेश।"

"हाँ-हाँ मेरे ही नातेदार तुम्हारे धन के लोभी हैं—जैसे उन्होंने तो धन देखा ही नहीं! उनके घर खाने को नहीं न, तभी तुम्हारे घर आते हैं।" उत्तेजित हो उठी वह।

"यह बात नहीं गीतू कि उनके घर खाने को नहीं; पर तुझ से अधिक तेरे धन की लालसा है उन्हें।"

"और तुम्हारे मारुत को तुम्हारे धन की लालसा नहीं क्या? गीता ने ताना दिया।

"मारुत की बात और है गीता।"

"क्यों नहीं—वह तुम्हारा मित्र है, इसीलिये न?"

परेश बोला—"हाँ, मारुत की बात और है। उसका कण-कण अणु-अणु मेरा पहिचाना है। बचपन का साथी है। सुख में साथ हँसा है, तब दुःख में साथ रोया भी है। वह तो कलाकार है, उसे धन का मोह नहीं।"

तनाव बढ़ गया।

यह सब कहने की बातें हैं। इतनी नादान मैं भी नहीं कि यह न समझूँ कि मारुत का खर्च चलता कैसे है?" तुनक कर वह कमरे से बाहर चली गई—उस दिन बात यहीं समाप्त हो गई।

गीता मध्यम वर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखती थी। माता-पिता की आर्थिक स्थिति विशेष सुदृढ़ नहीं थी, परन्तु इकलौती होने के कारण अभाव कभी नैहर में भी नहीं देखा। माँ-बाप आँखों की पुतली को मानों पलकों की ओट रखते। गीता को घर में विपन्नता का आभास भी न हुआ कभी। गीता भावुकता का साक्षात् रूप थी। परिवार कैसी शोचनीय आर्थिक अवस्था में से गुजर रहा है, कैसी चिन्ताजनक परिस्थितियाँ हैं ?—गीता इन सब से परे अपने ही नन्हे से संसार में खोई रहती। हाँ अपने उसी संसार में जो भावुकता के भावमय तन्तुओं से निर्मित, कल्पना के रङ्गों से अतिरंजित और भावना के कुसुमों से सुरभित था। प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त की पंक्तियों में उसका मन उलझा रहता—महादेवी के गीत उसके अधरों पर डोला करते। तरुण हुई, तो वधु बनकर परेश के घर आ गई, जहाँ लक्ष्मी का राज्य था—वैभव अपनी समस्त विभूतियों के साथ उसकी सेवा में प्रस्तुत था। इन ऐश्वर्य में परेश का सा पति पाकर गीता का व्यक्तित्व खिल उठा।

व्याह को पाँच-छः वर्ष हो चुके थे। इस सुख-समृद्धि मे भी कभी कभी गीता का कोमल हृदय व्यथित हो उठता, तब केवल पति की इस कठोरता के कारण। परेश का यह सब कहना, उसकी समझ से परेश की निठुरता ही थी।

गीता का एक न एक सम्बन्धी रोज बना रहता। गीता अपनी सम्पन्नता के अभिमान में दिल खोल कर व्यय करतो, और परेश को यह असह्य था। मौन प्रकृति का वह सलज्ज युवक मन की बात मन में ही रखता, परन्तु कभी-कभी कहे विना उससे रहा भी न जाता। परन्तु गीता को दुःखी करने का अभिप्राय उसका कदापि न हुआ करता था। दुनिया को वह भूला नहीं था, उसके अणु-अणु से परिचित था। माँ की मृत्यु के पीछे सिवा मारुत के और किसी ने उसका साथ

नहीं दिया था। वह दोस्त भी पराये हो बैठे थे जिनके अपनापे का उसे अभिमान था और आज वह बड़ा बन बैठा है, मिल का स्वामी है, तो जग मधु मक्खी के दल की भाँति टूट पड़ा है। पति पत्नी का विवाद जब भी होता था, इसी एक बात को लेकर।

परेश गीता को किसी भी तरह झुका न पाता। अभिमानिनी गीता कभी यह मानने को तत्पर न थी कि उसके सम्बन्धी या सब जग धन का है। परेश को हर बार झुकना पड़ता।

गीता की मौसेरी बहन बीना आई, तब दो मास से पहिले न हिली। परेश का उस कोलाहलमय वातावरण में रहना दूभर हो उठा—वह आरम्भ से ही एकान्तप्रिय था। बीना के जाने के बाद गीता को अवकाश मिला परेश को देखने का। परेश ने सहज भाव से पूछा—"गई तुम्हारी जीजी ?"

"हाँ—बहुतेरा और रुकने को कहा, पर मानी ही नहीं।"

परेश मिल के कागज-पत्र देख रहा था। गीता की बात सुन छुटकारे की सांस ले फिर काम में खो गया। मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। तीन दिन हो गये, वह किसी भी प्रकार समझौते को राजी नहीं हो रहे थे। काम में बड़ा विघ्न हो रहा था। परेश श्रमिकों की शोचनीय अवस्था से भली प्रकार परिचित था। अभी पिछले वर्ष ही तो उनके वेतन में वृद्धि की गई थी। परेश के ललाट पर चिन्ता के चिह्न उभर आये।

पूछा गीता ने—"इतने चिन्तित किस लिए हो ? क्या बात है?"

"मजदूर किसी भी तरह नहीं मान रहे। कमबख्त वह मैनेजर भी उनके साथ मिल गया।" विचलित सा वह बोला।

गीता एक दम खड़ी हो गई—"चाचा जी के सतीश के लिए कई बार कहा है, तुम किसी की मानों तब न। क्या बुराई है सतीश

में—बी० ए० है। सारा काम सम्भाल लेगा। चाचा जी ने इसी बात पर मुँह मोटा कर रखा है। अपने फिर भी अपने हैं परेश।"

"लेकिन............।" परेश दुविधा में पड़ गया। सतीश को वह भूला न था। उससे उसका वही मैनेजर लाख अच्छा है। समझ तो है उसके भेजे में।"

"लेकिन वेकिन कुछ नहीं, मैं अभी तार देती हूँ उसे।"

"अरे नहीं गीता, तुम नहीं जानती, पुराने आदमी फिर भी बहुत काम के हैं।"

गीता बिना कुछ सुने बाहर चल दी।

परेश ने खड़े होकर पुकारा—"बात तो सुनो न।"

वह रुक गई।

"गीता, यह......" इतना ही कह पाया था कि उसका ध्यान गीता के शून्य कंठ की ओर गया—"गीता, वह हार कहाँ है, जो तुम्हें जन्म-दिन पर उपहार दिया था ?"

गीता की दृष्टि झुक गई—"वह तो बीना जीजी ने ले लिया। कह रही थी, बड़ा सुन्दर है।"

परेश ने एक उच्छवास ली—"आह ! यह सब कब समझोगी गीता ? ...."

और सतीश तो तार की प्रतीक्षा में ही था जैसे, सन्ध्या को ही आ गया। साथ एक और युवक था। बोला—"यह मेरा मित्र हरीश है—सोचा, शायद इसके लिए भी कोई काम निकल आये।"

गीता उल्लसित हो गई—"क्यों नहीं ? घर की मिल है, बहुतेरा काम-काज है। तुम्हारे जीजा जी आयेंगे तो कह दूँगी।"

समय बीतता जाता है। बिना किसी की प्रतीक्षा किये। गीता अपने सम्बन्धियों में उलझती गई, परेश गीता को समझाने का प्रयत्न

कर-कर हारता रहा। यदि सब कुछ ऐसे ही बीतता रहता तो अच्छा, पर मुस्कानों का मोल बड़ा मँहगा है। हाँ, तो एक दिन···· ·· ····

कड़ी दुपहरिया थी। पसीने से बेदम गीता ने पंखा फुल स्पीड पर चला रखा था। संदल का शर्बत पीने ही जा रही थी कि पुराने नौकर हरिया की आवाज सुनाई दी—"बीबी जी ! ·········· गीता बेटी !" सांस फूला था, आँखें सुर्ख थी।

अनिष्ट की आशंका से कांप गई वह—संदल का ग़िलास फर्श पर गिर झनझना गया।—"हरिया ! "

"मिल को आग लग गई बेटी !···· बाबूजी ····· !"

अचेत हो धड़ाम से गिर पड़ी ·······।

जग में नितांत असहाय हो गई वह। सब जल गया—परेश चला गया उसकी मांग सूनी कर। स्वप्निल सौध धूँ-धूँ जल उठे। वह विधवा हो गई, बच्चे अनाथ हो गये—जगत् अन्धकारमय हो गया—पता लगा, मिल दिवालिया हो गई थी। लेने वालों ने कोठी, कपड़े, भांड़े सब नीलाम करवा दिये। गीता ने अपने को किसी तरह संभाला। बच्चों का ध्यान किया। कहाँ जाये ? क्या करे ? महादेवी का अवसाद, पन्त की कोमलता सब भूल गई। उसके पंख कट गये। अब उसके पाँवों के नीचे यथार्थ की कठोर भूमि थी। रह-रह कर उसका ध्यान बीना जीजी पर जाता—वही सहारा देगी ····।

गीता बीना के घर आ गई। परन्तु उसके आश्चर्य का अन्त न रहा, जब उसने बीना को देखा—उसका व्यवहार देखा ··· क्या यह वही बीना जीजो है ? ·······

अपने को हेठी समझ गीता सारा दिन काम करती, पर बीना थी कि तानों से बाज़ न आती थी।

एक दिन बीना ने कहा—"तुम्हारे बच्चे कितने पेटू हैं।"

गीता का सारा रक्त सोख लिया जैसे किसी ने। क्या यह उसकी बीना जीजी है, जिसे उसने अपना हीरों का हार बिन बात भेंट कर दिया था।

बीना ने मुन्नी को पीटा— वह ईला से थोड़ा दूध मांग रही थी।

मुन्नी ने गीता की छाती से लग कर कहा—"माँ, मौसी मारती हैं। इला झगड़ती है। हमारे पापा हमें केक पेस्ट्री ला देंगे। मैं पापा से शिकायत करूँगी, हाँ।

नन्हे ने कहा—"तू चूलियाँ पहन मम्मी! बिंदी लदा मौसी की तलह। अपने घल चल, हमाले पापा हमें खूब छाला दूध देंगे।" ...

गीता के दिल को टूक-टूक करके रख दिया जैसे किसी ने। बीना की और बातें अब सह न सकेगी। दोनों बच्चों को ले चुपचाप चल दी।

गीता सतीश के पास गई।

सतीश का तो उसे देखते ही मुँह काला पड़ गया, जैसे शनि साक्षात् आ गया हो।

रोकर गीता ने कहा—"यों मुँह न बनाओ सतीश! कुछ तो ध्यान करो। जब बेकार थे, तो तुम्हें नौकरी दी, तुम्हारे मित्र को भी नौकर रखा। भले दिन किसी के सदा नहीं रहते भैया।"

"सो सब ठीक है दीदी! पर जरा सोचो, मैं भी बाल-बच्चे वाला हूँ। आज सौ रुपये तुम मांगती हो, कल दो सौ माँगोगी, कहाँ से दूँगा मैं?" सतीश इतना कह भोजन करने लगा। गीता को पूछा तक नहीं। बच्चे सतृष्ण दृष्टि से उसे भोजन करते देख रहे थे।

अब समझ रही थी गीता परेश की बातों के मूल्य को। परेश की एक-एक बात याद आ रही थी उसे। आह! परेश गीता की नादानी को समझता था, फिर भी क्यों इस स्वार्थी संसार से जूझने

को अकेला छोड़ गया वह ? उसी जग से, जिसकी परिभाषा से भी वह कदाचित् अनजान थी। उसका हृदय चीत्कार कर उठता—परेश! तुम्हारे इन दुलारे बच्चों का मैं क्या करूँ, जो एक बूँद दूध के लिए भी बिलखते हैं। मुझे भी अपने पास बुला लो परेश ! तुम कितने निर्मोही निकले ! तुम तो मुझसे प्रेम करते थे, फिर क्यों छोड़ गये ? यही प्रेम था तुम्हारा ?

उसका हृदय रह-रह कर चीत्कार कर उठता। आज ·· अब बहुत देर हो चुकी, जब अवसर बीत गया, तो वह जग की वास्तविकता को समझी।

गीता की निराशा अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई। अपने अन्तिम प्रयास में भी हार गई वह। अपने फूफा दीनानाथ के घर से उसे टका सा जवाब ही नहीं मिला, अपितु फूफी उसके चरित्र पर भी लांछन लगाये बिना नहीं रही। फूफेरे भाई से उसका अनुचित सबंध जोड़ दिया। उसी फूफी ने जिसने एक दिन रो-रो बेहाल हो गीता के पाँव पकड़ लिये थे। बेटी की बारात आ गई थी और घर में भुनी भाँग भी न थी—दया भाव से द्रवित हो गीता ने परेश से भी चोरी दो हजार रुपये फूफी के हाथ पर रख उसके आँसू पोंछ दिये थे।

नन्हा बुख़ार से तप रहा था। मुन्नी अभावों में कुम्हला गई थी। गीता का चित्त अत्यन्त अस्थिर था। कोई ठौर-ठिकाना नजर नहीं आता था।

'आत्म-हत्या' यह विचार बिजली की तरह कौंध गया, परन्तु ··· विराम लग गया इस विचार पर, जिस क्षण बच्चों का ध्यान हो आया।

नन्हें को बुखार आ रहा था, वह बेहोशी में पापा ! पापा !! की रट लगाये था। वह उसे छाती से चिपका कर रो पड़ी। मन की परतों में दबी आशा उभर आई, ज्योति की क्षीण रेखा घनीभूत तम-

तोम को भेद चमक उठी।—परन्तु मन मस्तिष्क में संघर्ष उठा—नहीं नहीं ...... वह सदा उसके साथ झगड़ती रही। कभी अच्छा व्यवहार न किया। यदि उसने भी ठुकरा दिया ... गीता के मन में भयंकर द्वंद्व चल रहा था कि नन्हा पीड़ा से कराह उठा। गीता से और अधिक देखा न गया। नन्हें को गोद में उठा मुन्नी की उँगली पकड़, वह मारुत के घर चल पड़ी।

मारुत चित्र बनाने में व्यस्त था। द्वार पर आहट पा पट खोले, तो पतझर की सूखी लता सी गीता को खड़े पाया।

गीता का स्पंदन रुकने लगा। उसे लगा मारुत से भी उसे वही प्रताड़ना, वही सब मिलेगा ....।

अवाक् हो मारुत बोल उठा—"भाभी ! तुम ? कितनी बुरी हो तुम !—परेश रूठ गया था, तो तुमने भी अपने निर्धन देवर को भुला दिया। तुम्हें सब जगह तलाश किया। मैं कोई तुम्हारा पराया तो था नहीं—मुझसे क्या अभिमान था ? क्या दुराव था ?"

गीता की आँखें गीली हो गई।

मारुत ने नन्हें को अपनी गोद में ले लिया। सब भीतर आ गये। टूटी सी खटिया पर गीता बैठ गई।

मारुत फिर बोला—'मुझसे इतने बेगानापन का व्यवहार क्यों किया था भाभी ?"

"मुझे और लज्जित न करो भैया ! सब जग परख लिया, अन्त में अपना जान कर ही तो यहाँ आ गई हूँ।"

"यों न रोओ भाभी – मैं बड़े छोटे दिल का आदमी हूँ। परेश आंचल छुड़ा भाग गया तुमको नहीं खोऊँगा मेरे भाई की, तुम और यह दो नन्हें बच्चे ही तो, अमानत हैं, और परेश की अमानत तो मेरी जान से बढ़ कर है।'

इस अपनापे के बोझ को एक साथ गीता सम्भाल न सकी, दूसरे पूर्व व्यवहार का प्रायश्चित्त भी हो रहा था। उसके आँसू सूख ही न रहे थे।

"अरे! मेरे नन्हें बेटे को तो बुखार है! अच्छा मैं पहले डाक्टर को लाता हूँ। भाभी, तुम चाय का इन्तजाम करो इतने।" कह कर मारुत बाजार चलने लगा।

मुन्नी ने चिल्ला कर कहा—'चाचा केक-पेस्ट्री ...।"

"अरे लो, अपनी बिट्टो की चीजें तो मैं भूल ही चला था। भाभी! एक मिनट में आया!"

वह चला गया।

गीता चारपाई से उठ गई। अपने पराये का अन्तर आज उस की समझ में आ रहा था। मारुत फिर मुड़ आया—"सांझ के लिए सब्जी क्या लाऊँ?"

गीता ने कहा—"जो पसन्द हो, ले आना।"

गीता चाय की तैयारी करने लगी। आग सुलगाते उसे परेश के शब्द सुन पड़ रहे थे—यह तो धन के लोभी भँवरें हैं गीता! इनमें अपनेपन की आग कहाँ?"

साधारणतया इस कहानी को यहीं समाप्त हो जाना चाहिये था। आपके लिए तब चाहे यह पूरी हो जाती, परन्तु हमारे लिए यह अधूरी ही रहती। तो लीजिए, इसका अन्तिम चरण भी सुनिये—

दो तीन महीने हो गये गीता को मारुत के यहाँ रहते। उसे यों लगता, जैसे एक युग विकट बनों में भटकने पर थका विहंग अपना खोया नीड़ पाले।

एक रात उसे स्वप्न आया कि परेश बड़े ही प्रेम से उसके केश सहलाता कह रहा है— "देख लिया गीता, इस जग़ का ? परख लिया अपने परायों को ?"

गीता की नींद खुल गई। वह हड़बड़ा कर उठ बैठी। उसकी आँखें फटी की फटी ही रह गईं। क्या देख रही है वह ?…… परेश ! ………परेश ! उसकी चारपाई पर बैठा है। उसने आँखें मलीं ….कहीं यह स्वप्न तो नहीं ?— सपन ही ऐसे छली होते हैं………………………।

परेश हंस पड़ा………।

गीता चिल्ला पड़ने को हुई।

परेश के होंठ हिले —मैं जीवित हूँ गीता। डरो नहीं, मैं परेश हूँ परेश। मैं मरा नहीं………।

गीता इस खुशी को सम्भाल न सकी चेतना शून्य हो गई। उसके मुँह पर पानी के छींटे मारे परेश ने, तो उसने आँखें खोलीं। परेश को दोनों बाहों में बाँध लिया। बिलख पड़ी—"क्यों छोड़ गये थे इस जग में मुझे ? मैं सब को जान गई परेश। सबको समझ गई। पर परेश, हमारी मिल ! तुम जीवित थे, तो कहाँ—क्यों छिप रहे ? मैं मर जाती तो ?………

परेश ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया—"हिश्त् पगली। ऐसा नहीं कहा करते। मैं जीवित होकर भी इसलिये छिपा रहा कि तुम जगत को, अपने सगे सम्बंधियों को, नातेदारों को खूब समझ लो। हमारी मिल ?………उसकी चिन्ता मत करो, उसका तो बीमा हुआ था।" परेश ने उसे समझाने का यत्न किया।

"तो… तो………।"

परेश हँस पड़ा—"हाँ……हाँ ! हम निर्धन नहीं हैं, हम अब भी पहले ही जैसे सम्पन्न हैं।'

गीता ने परेश के पाँव पकड़ लिये—"मुझे क्षमा करो। मैंने सब परख लिया है। मारुत अब हमारे साथ रहेगा....।"

"अच्छा !" आश्चर्य-चकित हो बोला परेश—"पर वह तो मेरा मित्र है। उसका खर्च तुम जानती ही हो कैसे चलता है ?"

आँखें तरेर कर बोली—"मैं कहती हूँ तुम मेरी बातों में दखल मत दिया करो।" और दोनों हंस पड़े।

सांझ ढले-दीप जले !

"सरयू !"

"जी ।" सरयू ने नीचे मुँह किये ही उत्तर दिया । वह कसीदा काढ़ने में तन्मय थी । उसकी आँखों की उदासी और होठों का विषाद इस नन्हें से उत्तर 'जी' में घुल गया था ।

"मेरी ओर देखो, सरयू ।" सरयू के पति गगन बाबू ने कहा ।

सरयू के नेत्रों में प्रश्नात्मक कोण बना, परन्तु शीघ्र ही नीचे झुक गये वे ।

गगन बाबू का मुँह छोटा हो गया—तुम्हें क्या दुःख है सरयू ? किस चीज की कमी है तुम्हें ? क्या मैं तुम्हें पसन्द नहीं ?

सिहिर उठी सरयू "नहीं, नहीं, ऐसा मत कहो। आप मेरे स्वामी हैं, मैं तो दासी भर हूँ।" उसने पति के पाँव पकड़ लिये।

गगन बाबू ने उसे उठा हृदय से लगाते हुए कहा—परन्तु मुझे दासी नहीं, एक पत्नी चाहिये। एक मशीन नहीं चाहिये, जो अविरोध मेरी आज्ञा का पालन किये जाये—मुझे पत्नी चाहिये सरयू ! पत्नी जो मेरे साथ खुल कर हंसे-बोले लड़े-झगड़े। दासियां तो अनेक मिल जाती हैं। चाह कर भी तुम्हारी व्यथा का कारण नहीं जान पाया, और मैं सरयू ! इतना बुरा भी तो नहीं—तुम मुझसे बात करती उसी तरह काँप जाती हो, जैसे भोली हिरणी व्याघ को देख दहल जाती है।"

सरयू बराबर उसकी छाती में मुँह छिपाये रोये जा रही थी।

गगन ने सरयू की ओर देखा—निरीह मुखड़ा, निर्दोष आँखें—पीलापन लिये, गोरा रंग—"तुम किस लिये रोती हो सरयू ? मुझे भी तो बता। अग्नि देवता के समक्ष सुख-दुःख में साथ देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूं।"

हिचकियों के बीच सरयू इतना कह पाई—"यह सब मत कहो। तुम्हारे बिना जग में मेरा दूसरा कोई आधार नही।"

कई एक क्षण सोचकर गगन ने कहा—"यदि सन्तान के लिये तुम दुःखी हो, तो ···

सन्तान का नाम सुन सरयू सूखे पत्ते सी काँप उठी।

"मैं आदमी हूँ—पुरुष हूँ, पर जानता हूँ, नारी पूर्णता तभी अनुभव करती है, जब कोई उसे माँ कहने वाला हो। कोख फलने में ही नारी-जीवन की सार्थकता है। किन्तु घबराने की क्या बात है ?

लोगों के इतनी देर देर के बाद बच्चे होते हैं, और हमारे ब्याह को तो केवल पाँच ही वर्ष हुए हैं। खैर ! कल डाक्टर कन्हाई घोष के पास चलेंगे।''

श्वास रुक गई, संचित भय फूट पड़ा—"नहीं, नहीं, इसकी क्या आवश्यकता है ? भाग्य में होगा, तो भगवान दे ही देगा।''

"अरे, भाग्य वाग्य कुछ नहीं हारे का विश्राम है। तुम कल एक दम तैयार रहना।''

सरयू के मनने कहा—'सरयू, तेरा भाग्य खोटा है—तू जन्म की अभागी है।'' अब देवता सा पति भी खो देगी तू।' बोली—'प्रणेश आया था।''

खुशी में भर गया गगन कुछ देर पहले की बात जैसे बिल्कुल ही भूल गया—"अरे, तो पहले क्यों नहीं कहा था - अच्छा तो मैं चला—खाना खा लेना क्या पता कब लौटूं—जानती हो न, प्रणेश को मिलने चला हूँ।'' और वह जोर से हंस पड़ा। प्रणेश उसके घनिष्ठतम मित्रों में से है।

गगन चला गया, तो सरयू कुछ देर खोई खोई सी बैठी रही—फिर अलमारी से डायरी निकाल अबाध गति से लिखने लगी। घड़ी ने ग्यारह बजाये तो उसने डायरी बंद की। डायरी अलमारी में रख दी। मेज पर खाना लगा कर बैठ गई। शीतल वायु का झोंका उसके विचारों को भी ले उड़ा। डाक्टर ने कहीं ⋯ ⋯इस से आगे वह सोच नहीं सकी।

हृदय ने फिर कहा—"डाक्टर ने कहीं ········ ?''

कमरा चीख उठा—'डाक्टर ने कहीं···· ···??''

आसमान गरजा—"डाक्टर ने कहीं ··· ··· ···???''

दिवारें--दिशायें चिल्ला पड़ी—"डाक्टर ने कहीं······????"

सरयू का मस्तिष्क भन्ना उठा। वह बिलख पड़ी—"नहीं प्रभु, यों न करो। बिन अपराध ऐसा कड़ा दण्ड मत दो।"

सोचती-सोचती सो गई वह।

किसी की गर्म श्वास का अभास माथे पर हुआ, तो हड़बड़ा कर उठ बैठी। गगन था—स्नेह से दुलरा कर बोला—"पगली हो।"

सरयू की आत्मा ने कहा—"माँ भगवती ! पति का इतना प्रेम दिया है, तो यों निष्ठुरता से मत छीनों।"

प्रकट में बोली—खाना लाऊँ ?"

"मैं खाकर आया हूँ।"

सरयू सासान समेटने लगी।

गगन ने पूछा—"तुमने खाना खा लिया ?"

सरयू की गर्दन झुक गई।

अपने हाथ से कौर तोड़ सरयू के मुँह में देखकर बोला—'यह बात बुरी है। बाहर गये देर सबेर हो जाती है, तो भूखी बैठी रहती हो। यह आदत ठीक नहीं सरयू।"

गले में रुलाई लटक गई। हाय ! दाईं आँख क्यों फड़क रही है ? शायद फिर गगन का यह पवित्र प्रेम न मिले। उसने गगन को बाँहों के कच्चे बन्धन में कस लिया।

उस रात एक पल को भी सरयू को नींद न आई। गगन ने कई बार टोका भी, पर सिरदर्द का बहाना कर टाल दिया उसने गगन को।

अगले दिन दोनों पति पत्नी जब कन्हाई घोष की दुकान से निकले, तो सरयू की आँखें धरती में गड़ी थीं, और गगन के मस्तिष्क

में भीषण ऊहा पोह मची थी। वह अपने डगमगाते पाँवों को बड़ी कठिनता से सम्भाले था।

उसके मन में पूफान उठ रहा था। क्या डाक्टर ने ठीक कहा है? पर कैसे हो सकता है? किन्तु डाक्टर को झूठ बोलने की क्या पड़ी?—तो सरयू कुलटा है? कन्हाई घोष ने कहा है—"एक बच्चे को जन्म देने के पश्चात् आप सरयू को बाँझ कहते हैं! कमाल है भाई गगन! सरयू की मानसिक अस्वस्थ्ता ही इनके गर्भ धारण करने में बाधक है। पर घबराने की कोई बात नहीं, गगन बाबू।"

गगन जड़ हो गया था....तब यह सुनकर........

दूसरे क्षण दिल से आवाज उठी—"तो इसी कारण सरयू घबराई रहती थी, काँपती थी—प्रेम का प्रतिदान नहीं कर पाती थी।" सिर घूमने लगा उसका—इतने स्नेह का यह बदला.........! सरयू पर एक दृष्टि फेंकी—चुपचाप गुम-सुम सी। उसके अन्तर ने कहा—यह क्या किया सरयू, तूने? क्यों इतना बड़ा धोखा दिया! क्या बिगाड़ा था मैंने तुम्हारा? किस जन्म का बैर चुकाया?

एक बार मन में खूब घृणा हो आई—"छिः यह निर्दोष रूप और यह चलन!" फिर क्रोध आया कि सरयू का गला घोंट डाले। परन्तु कुछ भी कह न सका। हारे से स्वर में कहा—'तुम घर चलो, मैं ठहर कर आऊँगा।"

"जी।" इतना भी कठिनता से कह सकी सरयू।

सरयू जैसे-कैसे घर पहुँची। पलंग पर गिर पड़ी, और चेतना-हीन सी हो गई। दो घन्टे पीछे नौकर ने आकर कहा--"बीबी जी! बाबू कलकत्ते जा रहे हैं प्रणेश बाबू के साथ—शायद बहुत दिन लग जायें। उन्होंने कहा है, आप पीहर हो आईये।"

सरयू पीहर चली गई—जाते बार बड़ी हसरत से उसने घर को देखा। गगन कहीं भी न गया—जाना भी नहीं था उसे कहीं। सरयू को सह नहीं पाता था। गगन बहुत ही बदल गया था। जाने कितना रुक्ष, अक्खड़, लापरवाह होता जा रहा था—उसके मन को चैन नहीं था। एक ही प्रश्न सब समय बना रहता—"यह क्या किया सरयू, तूने ?"

उधर सरयू का मन भी ठीक नहीं था। माँ के गले से चिपट कर रो पड़ती। आँखों को पल्ले से पोंछती। माँ समझाती—"तेरा भाग्य ही ऐसा है बेटी।" सरयू और भी ज्यादा रो पड़ती।

सरयू को आये, महीना बीत चला था—सारी बात वह समझ गई। अपने देवता तुल्य पती को अपराधी न ठहरा पाती। सोचती—"डाक्टर से सब सुन क्या बीती होगी उन पर—सब सह गये, एक शब्द भी न कहा मुझ से।"

एक दिन सरयू रोटी बना रही थी कि माँ ने पुकारा—"सरयू, तेरी चिट्ठी है।"

सरयू के नाम गगन के सिवा और किसका पत्र हो सकता है भला ? पर गगन क्यों लिखने लगा उसे ? शायद उसने सरयू का अपराध क्षमा कर दिया हो ? नहीं, नहीं, ऐसा जघन्य अपराध अक्षम्य है। देवदास की पारो का कलंक नदी के जल में धुल सकता था, परन्तु उसका कलंक…… ….!" पत्र खोलने से पहले सरयू के मुख पर पचासों रंग आये और गये।

"सरयू,

"सुखी रहो !

"सरयू किन अपराधों का दण्ड तूने मुझे दिया ? यही मेरे सीमाहीन स्नेह का मूल्य था शायद। अधिक क्या लिखूँ……… मेरी

गई। दफ्तर....कागज....फाईलें....सब की सुध भूल वह पढ़ने बैठ गया।

२३ जून १६४०, कालिज में कितना अजीब सा लगता है। लड़कों के साथ बैठ पढ़ने में बड़ी हिचक होती है। नीना, सविता, रेखा, सब कितना खुल कर बोलती हैं लड़कों से। मैं बुद्धू कैसे घबरा जाती हूँ!

गगन ने कई पन्ने उल्ट दिये।

३० जून १६४०—"लड़कियों का भी क्या है, गाय की तरह हैं। जिसके हाथ में रस्सी पकड़ा दी, उसी के साथ चल दी। चित्रा को ही लो, पढ़ी-लिखी, सुन्दर है बस अर्थाभाव के कारण बाप के बराबर आदमी के साथ चुपचाप भाँवरें ले लीं।"

२५ जुलाई १६४० "मेरी शादी की बात चल रही है। सुना है, वह बड़े सौम्य, सुशील और प्रतिभा सम्पन्न हैं। माँ के पास फोटो भी है। यह रानी भी कितनी शैतान है—दूर-दूर से दिखा कर चिढ़ाती है। उस रात माँ ने रामायण में रखी थी।"

२८ जुलाई १६४० "रात को चोरी से उनका चित्र देखा, एक दम मन को भा गये। कैसा भोला रूप है। नाम भी कितना न्यारा है गगन! अधरों पर की मुस्कान से लगता है, हृदय भी गगन की तरह ही विशाल है। जाने क्यों आँख भर आई है। मैंने उन्हें अपना देवता मान लिया है। मैं तुम्हारी पुजारिन हूँ देवता ......!"

गगन का जी भर आया—उत्सुकतावश सफ़ा उल्टाया।

१ अगस्त १६४० "सगाई भी हो गई। कितना छेड़ा सब सखियों ने मिलकर। कम्बख्त हैं सब की सब, सिनेमा देखे बिना मानेंगी थोड़ा—कल जाना ही पड़ेगा।"

२४ अगस्त १६४० "गगन देवता! मैं लुट गई—पुजापे में

ओर से तुम स्वच्छंद हो—"गगन--जो कभी तुम्हारा कुछ था।"

पढ़ कर फफक पड़ी वह।

"क्या लिखा है ?" माँ ने पूछा।

"वह देवता हैं माँ। अपने करम सामने आ रहे हैं। माँ, मैं जन्म लेते ही क्यों न मर गई ? क्यों उन्हें इतना कष्ट देने को यह कलंकी जीवन का भार उठाये रक्खा था। माँ वह मेरे बिना जीवित नहीं रह सकेंगे ! वह महान् हैं। कोई दण्ड न दिया मुझे। काश ! वह मुझे कुछ लांच्छित करते, तो शायद आत्मा को कुछ शान्ति मिलती। यों स्वच्छंद करके तो उन्होंने और भी बाँध लिया मुझे। यह क्षोभ जीवन भर नहीं जायेगा।"

सरयू पागलों की तरह प्रलाप करती रही। माँ अपना जी कठोर कर चौंके में जा बैठी।

× × × ×

गगन का जीवन सरयू के बिना पतवारहीन नैया सा हो गया। यहाँ सरयू सोती थी--यहाँ खाती थी—दीवाली के दिन सरयू ने यह बात कही थी ! यही काम रह गया था अब गगन को। सरयू के प्रति उसकी प्रीति इतनी सीमाहीन थी कि वह उसके सब दोषों की अवहेलना कर देना चाहता था—मस्तिष्क नहीं मानता था बस। काश ! वह सब कुछ स्वयं ही बता देती, तो गगन ने उसे क्षमा कर दिया होता।

एक दिन दफ्तर के कुछ जरूरी कागज खोज रहा था—मिल ही नहीं रहे थे निगोड़े। सरयू का अभाव अनायास ही खटक गया - वह होती, तो गगन को टक्करें मारने की क्या जरूरत थी ? कमरे में सब उथल-पुथल कर दिया, अचानक उसके हाथ में सरयू की डायरी आ

गई। दफ्तर....कागज....फाईलें....सब की सुध भूल वह पढ़ने बैठ गया।

२३ जून १६४०, कालिज में कितना अजीब सा लगता है। लड़कों के साथ बैठ पढ़ने में बड़ी हिचक होती है। नीना, सविता, रेखा, सब कितना खुल कर बोलती हैं लड़कों से। मैं बुद्धू कैसे घबरा जाती हूँ!

गगन ने कई पन्ने उल्ट दिये।

३० जून १६४०—"लड़कियों का भी क्या है, गाय की तरह हैं। जिसके हाथ में रस्सी पकड़ा दी, उसी के साथ चल दी। चित्रा को ही लो, पढ़ी-लिखी, सुन्दर है बस अर्थाभाव के कारण बाप के बराबर आदमी के साथ चुपचाप भाँवरें ले लीं।"

२५ जुलाई १६४० "मेरी शादी की बात चल रही है। सुना है, वह बड़े सौम्य, सुशील और प्रतिभा सम्पन्न हैं। माँ के पास फोटो भी है। यह रानी भी कितनी शैतान है—दूर-दूर से दिखा कर चिढ़ाती है। उस रात माँ ने रामायण में रखी थी।"

२८ जुलाई १६४० "रात को चोरी से उनका चित्र देखा, एक दम मन को भा गये। कैसा भोला रूप है। नाम भी कितना प्यारा है गगन! अधरों पर की मुस्कान से लगता है, हृदय भी गगन की तरह ही विशाल है। जाने क्यों आँख भर आई है। मैंने उन्हें अपना देवता मान लिया है। मैं तुम्हारी पुजारिन हूँ देवता ....!"

गगन का जी भर आया—उत्सुकतावश सफ़ा उलटाया।

१ अगस्त १६४० "सगाई भी हो गई। कितना छेड़ा सब सखियों ने मिलकर। कम्बख्त हैं सब की सब, सिनेमा देखे बिना मानेंगी थोड़ा—कल जाना ही पड़ेगा।"

२४ अगस्त १६४० "गगन देवता! मैं लुट गई—पुजापे में

अपनापा चढ़ाने की सोची थी—अब क्या है अर्चना को ? था तो सम्भाली नहीं गई मुझ से।

सखियों को सिनेमा दिखा घर आ रही थी—कैसी काली भयावह रात थी—मैं अकेली ही तो थी—डरते हुए शीघ्रता से पग बढ़ा रही थी कि जोर की बारिष आ गई- हार कर टैक्सी लेनी पड़ी।

"ओह ! आगे लिखा नहीं जाता ! हाथ काँप रहे हैं रात के सन्नाटे में जाने कहाँ ले गया मुझे। मैं रोई—चिल्लाई—गिड़गिड़ाई ! परन्तु……सब समाप्त हो गया !

"इस अपवित्रता को ले देवता के मन्दिर में क्या करने जाऊँ ? नहीं मैं ब्याह नहीं करुँगी। मैं उन्हें धोखा नहीं दे सकती। मैं पापिन हूँ—कलुषित हूँ !"

गगन का सिर चकराने लगा। सरयू !—उसने माथा पकड़ लिया ……।

१० दिसम्बर १९४०—"पेट में पाप पल रहा है—माँ दवा खाने को कहती है—एक बार तो सब विवशता से हो गया। अब जानबूझ कर और पाप मुझ से नहीं होगा … नहीं होगा !"

इसके उपरान्त साल भर कुछ नहीं लिखा था।

१२ फरवरी १९४१—"पाप कितना भयंकर और उसका परिणाम यह फूल सा बबलू, कस कर छाती से लगाने का जी होता है। माँ कहती है, मैं इसे गंगा में बहा दूँ ! सो कैसे हो सकता है ? यह नहीं होगा। मैं ऐसा नहीं कर सकती।"

२८ फरवरी १९४१—'बबलू अनाथालय में है……अपनी माँ के होते हुए भी ! माँ कहती है, मैं बबलू को भूल जाऊँ, अब मेरा ब्याह होगा। मैं हँस पड़ती हूँ, मेरा ब्याह ? एक शव का ब्याह……!"

इसके पश्चात् पाँच साल डायरी नहीं लिखी गई थी। अन्तिम बार उस दिन लिखी गई थी, जब गगन और सरयू की बात हुई थी ···

—"वह मुझे डॉक्टर के यहाँ ले जायेंगे—उन्हें सब पता चल जायेगा। मैं बाँझ नहीं—मैं एक बच्चे को जन्म दे चुकी हूँ—क्या बीतेगी उन पर?

काश! मैंने ब्याह न किया होता। भगवान ही रक्षक हैं!

—नगर के अनाथालय में बबलू भी बड़ा हो गया है ······।

आगे गगन ने नहीं पढ़ा! जोर से पुकारा—"राम सेवक! सामान बांधो, बीबी जो को लाना है।"

और आध घन्टे पीछे गगन गाड़ी में था।—सरयू ने द्वार खोला, तो हैरान रह गई!—पति के पाँव छुए।

"शीघ्र तैयार हो जाओ सरयू, अगली ही गाड़ी से अपने घर चलना है। जी भर लिया न भई अब मायके से ····· कई महीने हो गये।" हो-हो कर हंस पड़ा वह।

सरयू कारण तक न पूछ सकी।

सन्ध्या को दोनों थके-हारे घर पहुँचे। राम सेवक पाँच छः साल के बच्चे को खिला रहा था।

सरयू के पाँव के नीचे से धरती निकल गई। बबलू और यहाँ?

गगन एकदम बोल उठा—'सरयू, इस बच्चे को अनाथालय से लाया हूँ। वहाँ इसे बबलू कहते थे, मैं इसका नाम राजा रखूंगा। मुझ से सन्तान के लिये तुम्हारा दुःखी रहना देखा नहीं जाता था, सच।"

सरयू के आँसू रुक नहीं रहे थे ····· वह क्षमा याचना करने को हुई ·····।

गगन ने बढ़ कर उसके आँसू पोंछ दिये—"पगली हो! यह भी अपना ही बच्चा है।"

बिलख कर सरयू ने कहा—"मुझे क्षमा करो……!" तुम्हें देवता कहना तुम्हारा अपमान है! तुम तो……!"

टोक कर गगन बोला—"बहुत पढ़ी—लिखी औरतों के साथ ब्याह कर यही मुसीबत होती है।

"बस—! भई, इस में रोने-बिलखने की क्या बात है भला? लो बोलो, माफ़ी मुझे माँगनी चाहिये थी कि गृह स्वामिनी की आज्ञा के बिना बच्चा ले आया—उल्टा रो-रो कर बेहाल हो रही है यह…………।"

सरयू ने उसके पांव पकड़ लिये—"तुम मानव …… …उस से बहुत बड़े … ……!"

खिलखिलाकर गगन ने कहा—'हाँ मानव नहीं उस से बड़ा दानव हूँ—क्यों?"

"हटो।" सरयू ने शरमा कर कहा। आज प्रथम बार उसकी वाणी में यह स्नेह स्निग्धता और नयन में कटाक्ष था।

गगन ने मुँह फेर कर आँख पोंछ डालीं। प्रत्यक्ष में बोला—"श्री मती जी! गगन बिहारी का पेट केवल बात से नहीं भरा करता, जानती हैं न? गगन देवता नहीं, जिस पर दो फूल चढ़ा दिये! यह तो हाड़ माँस का बना आदमी है, जिसके पेट में भूख से चूहे कुल-बुलाया करते हैं।

सरयू हंस कर खाना बनाने चल दी।

वह रोटी बना रही थी ……

आँखों से मोती झर रहे थे………और होठों से हंसी के फूल……!

कन्या दान

हाथ की सलाईयाँ धर एक दीर्घ निश्वास खेंच कर रीना ने घड़ी को देखा। रात्रि के ग्यारह बजा ही चाहते थे। जनवरी के महीने में भी घुटन महसूस हुई। खिड़की खोल दी उसने। सामने गुलाब की झाड़ी पर दृष्टि पड़ी तो पड़ी ही रह गई। चन्द्र की रजत-ज्योत्स्ना में फूले गुलाब उल्लसित से लग रहे थे। मन भर आया रीना का-सब कुछ वैसा ही है–चन्द्रमा आज भी स्मिति बिखेर रहा है, ज्योत्स्ना आज भी इठला रही है। विरह-विकम्पित दीप-शिखा सी रीना की हिचकियाँ तीव्र होती गईं। मौक्तिक से शुभ्र अश्रु बह-बह

कर बिखरते रहे। उन्हें पोंछने का भी ध्यान उसे न आया। प्रकृति का उज्जवल हास और उसके रुदन ने वातावरण में विचित्रता सी भर दी थी।

खट ……खट …कमरे के द्वार पर खट-खट हो रही थी, इसका भान रीना को काफ़ी समय पश्चात् हुआ। आँसू पोंछ कर किवाड़ खोल दिये सामने महिम बाबू खड़े थे।

चकित हो गई रीना—"पिता जी आप ! इतनी रात गये जाग रहे हैं क्या ? "उसे ध्यान ही न आया था कि उसका रुदन बराबर के कमरे में सोये महिम बाबू की नींद में विघ्न डाल देगा।

महिम बाबू ने गहरी दृष्टि से रीना की आँखों में देखा, उसकी दृष्टि पृथ्वी को छूने लगी। दोनों की दशा चोर सी हो गई। महिम बाबू का कंठ भरा गया—'रीना।"

"पिता जी।" रीना को लगा उसका दिल पिघल कर आंखों में आ जायेगा।

"यों नहीं रोया करते, बेटी !"

"जी पिताजी।"

'हाँ, हाँ" तू तो बहादुर है, रीना ! भगवान की मर्जी पर किसका बस चलता है भला ? हम तो, कुछ नहीं कुछ भी नहीं—उस प्रभु के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। शतरंज के निर्जीव मोहरे हैं।" अपने पर काबू पाते कहे जा रहे थे—"रीना, तू रोती है, तो मैं……मैं……। तू न रोया कर, मेरी बेटी ! तुझे काहे की कमी है ?" कहने को कह गये महिम बाबू, पर 'कमी' शब्द ने उनके मन का बाँध तोड़ दिया। वह धरती पर बैठ गये।

रीना नारी हो कर कैसे धीर धरती ? पुरुष नारी का सब से बड़ा अवलम्ब, सब से बड़ा सम्बल है, और है उसका दौर्बल्य।

नारी पुरुष के लिये ही जीती आई है। पिता ··· पति ···पुत्र इन तीनों के घेरे में ही घिरी आ रही है। महिम बाबू के पाँव के पास बैठ वह फिर फफक पड़ी।

भयंकर तूफ़ान के पश्चात् सर्वत्र शान्ति छा जाती है। दोनों के हृदय का बाँध टूटा, तो जी भर कर रोये। गुबार निकल गया, विधि के विधान पर मानव का वश केवल आँसू बहाने तक ही चलता है। विधान का भ्रू-विक्षेप होने पर साहसी, शक्तिशाली मानव कितना असहाय सा हो जाता है। पुरुषार्थ का अभिमान चूर्ण हो जाता है।

सुबह रीना उन के लिये दूध लाई, तो अखबार पढ़ते महिम बाबू ने स्वर अतिशय स्नेहासिक्त करके कहा—सांझ को तैयार रहना, सिनेमा चलेंगे।"

"जी !" कह कर रीना बाहर आकर हंस पड़ी, महिम बाबू की बात पर। वह उसे बहलाने के कैसे कैसे उपाय करते हैं। तभी महिम बाबू गिलास थामे-थामे बाहर आ गये, कहा—"देख रीना, मैं शाम को कोई बहाना नहीं सुनूंगा। इस सपेद दाढ़ी का मान तुझे रखना ही होगा। तुझे लक्ष्मी बना कर घर में लाया था। तुझे यों रोता देख भगवान का शाप मुझ पर ही पड़ेगा। अपनी कंचन सी देह को देख जो माटी बनती जा रही है। बेटे को तो खो दिया, तू भी हाथ से जाती रही, तो भगवान को क्या जवाब दूंगा ?"

"जी, पिता जी।"

·········

शाम को जाने की तैयारी करने लगी रीना। कपड़ों की अलमारी उसने खोली, तो सामने सुर्ख सितारे की साड़ी पर दृष्टि पड़ी। स्मृतियाँ साकार हो उठीं। एक वर्ष छः माह पहले की तो बात है. जैसे कल की हो। अभी तो कुछ भी नहीं बदला, बस वही न रहे। इसी साड़ी को पहन वह महिम बाबू के एक मात्र पुत्र रतेन्द्र की बहू

बन इस घर में आई थी। विदाई के समय बड़ा भाई निखिल उसे छाती से लगा बच्चों की तरह रो पड़ा था।

—"यह रतेन्द्र तेरा पति है, यह महिम बाबू तेरे ससुर होते हुए भी तेरे पिता हैं, इन्हें सदा सुखी रखना। यही मेरी सीख है बस बहन !"

माँ बाप जब छोड़ गये थे, तब रीना बहुत छोटी थी। निखिल ही उसकी माँ थी, वही उसका बाप था। आज भी यों छोड़ कर जाते बड़ा मोह हो रहा था उसे।

यहाँ आई, तो बस यहीं की बन गई। रतेन्द्र ने वह सब जो इसका निजी था, रीना के आँचल में डाल दिया। लम्बे घूंघट की आड़ में जब उसने महिम बाबू के पाँव छुए, तो इन्होंने कहा—"तू मुझ से घूंघट मत कर, बेटी ! पिता से भी कोई घूंघट निकालता है क्या ? बेटी का अभाव था, सो तू आ गई है। तुझे पहली नजर देख कर ही मेरे मन ने कह दिया था कि तू ही मेरी बेटी बनने योग्य है। तू लक्ष्मी है, तू अन्नपूर्णा है। आज रन्तु की माँ होती तो तुझे देख कर कितना खुश होती।" पल को जीवन संगिनी का चित्र उभरा उनके मानस पर।

रीना ने घूंघट उठा कर महिम बाबू को दे खा—'लम्बा दोहरा शरीर, गहरी आँखें, मुख पर सौम्यता, स्निग्धता। रोबीला व्यक्तित्व। पाँच वर्ष पूर्व वह जज थे। उनके निर्णय कितने उचित हुआ करते थे। यह रोबीलापन इसी अतीत की झलक था।

रीना ने सोचा—यह उसके ससुर हैं.........नहीं, पिता—वही पिता, जिन्हें उसने बचपन में खो दिया था। पूर्व जन्म के किसी पुण्य से वह फिर मिल गये हैं।

रतेन्द्र और रीना में बहुत प्यार था। बच्चों की तरह लड़ते-

झगड़ते, रुठ जाते। महिम बाबू की डांट-डपट से फिर मान-मनौवल हो जाती। बातों में खाना पीना तक भूल जाते, तो बाबू जी का लेक्चर सुनना पड़ता। कभी पिक्चर जाते तो बाबू जी डांटते-डपटते '—नालायक हैं दोनों। आँखें फोड़ कर ही दम लेंगे।"

उस दिन रतेन्द्र खूब गर्म था। दाल में नमक जरा ज़्यादा डल गया था। रीना बेचारी गिड़गिड़ा रही थी— 'हाय राम। धीरे बोलो, पिता जी सुनेगें, तो ? लो पल भर में दुबारा बना देती हूँ।"

रन्तु ने जोर से चिल्ला कर कहा–"अच्छा है। सुन लें पिता जी भी। जिस को लक्ष्मी बेटी बताते हैं, वह दाल तक नहीं बना सकती।" वह रीना से सुबह का बदला लेना चाहता था। प्रात: उसे जरा जुकाम था, रीना को सैर के लिये न ले जा सका। रीना ने पिता जी से शिकायत कर दी। फिर क्या था—"सूअर कहीं का। जुकाम हो गया, हूँ मेढ़की को जुकाम हो गया। तेरी उमर में थे, तो जुकाम का नाम तक भी नहीं जानते थे। चल, हो तैयार उस बच्ची का दिल नहीं टूट जायेगा ?महिम बाबू की गुर्राहट के आगे रन्तु भीगी बिल्ली बन गया।

बस सुबह का गिला था—रीना को गालियाँ खिलाने पर तुला था।

महिम ने इस धमा-चौकड़ी को सुना, तो क्रोध में भर छड़ी घुमाते आये। रन्तु की तो बोलती बन्द हो गई।

"क्या बात है ? यह घर है या सब्जी मंडी? वह गरजे। विजय का भाव रतेन्द्र के मुख पर खेल गया, अकड़ कर बोला—"जी आप की बेटी दाल तक नहीं बना सकती।"

"खबरदार ? जो आगे जुबान खोली। तू क्या जाने दाल कैसी होती है ? यह मुँह मसूर की दाल। साला युनिवर्सिटी में प्रोफेसर क्या लगा, दिमाग़ सातवे आसमान पर चढ़ गया। एक छड़ी में सारी

प्रोफेसरी निकाल दूँगा। याद रखना आगे से कभी कुछ कहा तो—हाँ।" वह गुर्राते बाहर चले गये।

नमाज़ बख्शवाने चला था गले पड़ गये रोजे, बेचारे के। मिट्टी का माधो बन रह गया।

कहां तो रीना की जान निकली जा रही थी, कहाँ शेर बनकर रन्तु को जीभ दिखाने लगी। रन्तु ने उसकी चोटी खेंच दी। "पिता जी, देख लो।" चिल्लाकर रीना झूठ-मूठ रो पड़ी।

महिम बाबू ने फिर शोर-शराबा सुना तो मन ही मन खुश हो गये। भगवान को धन्यवाद दिया—"प्रभु मेरे बच्चे सदा योंही हँसते खेलते रहें। नज़र न लगे किसी की। परन्तु प्रयत्न से क्रोध करके बोले—'ओ वे रन्तु के बच्चे।'

महिम बाबू भूल चुके थे कि उमर इतनी हो चली है। सारा समय रन्तु-रीना के झगड़े निपटाते बीत जाता। ....

"रीना बेटी! तैयार नहीं हुई क्या?" बाबू जी की आवाज़ ने रीना को स्वप्न से जगा दिया। घन्टे से वह वहीं खड़ी थी। हाथ में वही सितारों वाली साड़ी और नयनों में अविरल बहती जलधारा। शीघ्रता से एक सादी सी सपेद धोती पहन बाहर आ गई—"चलिए।" महिम बाबू से उसकी टेसू सी लाल आँखे न छिपीं, पर चुप रहे। उन्हें लगा, उनका कलेजा कचोट लिया हो किसी ने।

थियेटर पहुँचे, तो खेल चालू हो चुका था। रीना की आँखों में धुंधलका सा छाया था। चित्रपट पर उसे कुछ दृष्टिगोचर न हुआ। सब धुंधला-धुंधला दिखा। सिर पीछे टिका कर उसने आँखें मूंद लीं।

उसका सोने का संसार था। एक दिन शरारत से कहा रन्तु ने—"हम अपने लड़के का नाम रमेन्द्र रखेंगे।"

रीना रीझ कर खीझ उठी थी—"हटो।"

साल बिना बात के बीत गया।...... रतेन्द्र के आने का समय हो गया था। महिम बाबू अखबार में व्यस्त थे, रीना चाय की ट्रे लिये आ रही थी। तभी टेलीफोन जोर से टनटना उठा। रीना का हृदय कांप गया। महिम बाबू ने चोंगा उठाया, एकदम बदहवास हो गये—"क्या कहा—रतेन्द्र का एक्सीडेंट!—सीरियस कन्डीशन!—ओह! डाक्टर उसे बचाओ!—बचाओ!! मैं लुट जाऊँगा!!!"

रीना के हाथ से ट्रे छूट गई। चित्र लिखित सी खड़ी रह गई। महिम बाबू ने उसे कार में धकेल दिया!

रन्तु का सारा शरीर पट्टियों से ढका था। थकी सी आंखों को खोला, रीना को सामने पाकर बड़बड़ाया—"रीना हम लड़के का नाम रमेन्द्र रखेंगे।"

रीना फटी-फटी सी आँखों से देखती रही बस।

डॉक्टर ने इन्जेक्शन दिया।

बुझते दीप की लौ उठी—रोते पिता को देखा, नयन-कोर सजल हो गये। कष्ट से सांस लेकर कहा—'पिता जी! ·· रीना··· का ········!" पंछी उड़ गया।

महिम बाबू पछाड़ खाकर गिर पड़े।

रीना बुत बनी खड़ी रही, उसे झकझोरकर महिम बाबू बिलख उठे—'रन्तु हमें छोड़ गया! हमें धोखा दे गया!—तेरा सिन्दूर पुँछ गया रीना!—मेरी बच्ची!"

रीना ने घूर कर महिम बाबू को देखा, फिर आगे बढ़ रन्तु के बर्फ से ठन्डे माथे पर अपने होंठ रख दिये।

डाक्टर, नर्स, महिम बाबू सब ने देखा—सब की नजर झुक गई।

वह यन्त्र परिचालित सी महिम बाबू के पास तक आई—"पिता जी ! रोईये मत । रन्नु की चिर-शान्ति को भंग मत कीजिये ।" महिम बाबू ने रीना को देखा—बेटा चला गया, कही बेटी को भी कुछ न हो जाये । वह भी पत्थर बन गाये ।.........

इन्टरवल हुआ, तो रीना को सुध आई । "अच्छी लगी बेटा पिक्चर ?"

"जी, पिता जी ।"

इस बात से महिम बाबू अनभिज्ञ न थे कि रीना ने कुछ भी नहीं देखा ।

खेल फिर चालू हो गया ! रीना का मन फिर घुमड़ने लगा । विचार धारा की कड़ियाँ फिर जुड़ गईं ।

रीना का भाई निखिल विदा कराने आया, तो महिम बाबू ने चारपाई पकड़ ली । रीना के बिना क्या आधार होगा जीवन का ? रीना ने भाई से कहा—"तुम्हीं ने तो कहा था दादा कि यह मेरे पिता हैं । वह इन्हें धोखा देकर चले गये हैं—मुझ से नहीं जाया जायेगा । मेरे पीछे कौन पिता जो को देखेगा ? कौन इतने बड़े घर की देख-भाल करेगा ? मेरा यही घर है—मैं कहीं नहीं जा सकती दादा ! —नहीं जा पाऊंगी दादा !

"तू महान है रीना !" निखिल ने कहा !

सन्ध्या को जब महिम बाबू के लिये चाय लेकर गई तो उन्होंने छा-- "तू गई नहीं बेटी ?"

"पिता को छोड़ कहाँ जाऊँगी ?"

महिम बाबू निरुत्तर हो गये ।

पिक्चर खत्म हो गई ·· ····रीना की विचार-धारा भी रुक गई—जड़ हो गई—समाप्त हो गई ।

दोनों उठकर चल दिये। महिम बाबू सारी राह पिक्चर की ही बात करते रहे। रीना हूँ हाँ में ही उत्तर देती रही।

× × × ×

छः माह हो गये रतेन्द्र की मृत्यु को, पर रीना क्षण भर को भी उसे भूल न पाती। घर के काम-काज में खो जाने का यत्न करती। खाना बनाने का सारा काम उसने अपने ऊपर ले लिया। खाली समय में सिलाई—बिनाई ले महिम बाबू के पास आ बैठती, महिम बाबू उसे देख वेदना से भर उठते। काश ! वह उसका दुःख बँटा सकते।

× × × ×

उस दिन दस बज गये रीना को महिम की बाट जोहते, खूब नाराज हो गई थी वह। महिम बाबू के आते ही बरस पडी—'इतनी रात गये तक बाहर सर्दी में रहना क्या ठीक है पिता जी ? आगे ही जुकाम हुआ है आपको।"

"तू भी मेरी पगली बेटी है। खाना खाकर सो जाती बाहर गये आदमी का क्या पता। ब्याह में गया था। श्री राय की मालिका का ब्याह था - तू जानती है न उसे ?

"पर पिता जी ! वह तो···· ·····।" वह झिझकी।

"हाँ···· हाँ···· विधवा थी, तब क्या हुआ। अभी उमर ही क्या है उसकी। ठीक हुआ, खूब ठीक हुआ।" दूध पीते-पीते महिम बाबू ने लापरवाही से कहा।

खाली गिलास लेकर चलने लगी तो रुक कर बोली—"पिता जी ? मेहमान आये हैं - कोई विनायक बाबू हैं, आपके मित्र रमेश के पुत्र। रिसर्च स्कालर हैं।"

यह सुनते ही बाबू जी खिल उठे।

विनायक क्या आया, बाबू जी को तो जैसे खोया रतेन्द्र मिल गया। दिन रात विनू-विनू-विनू। विनू आये, तो वह घूमने जायें, विनू आये तो वह खाना खायें, विनू आये तो सोयें। कहीं जायें तो विनू, कहीं से आयें तो विनू। जाने क्यों इतना प्रगाढ़ स्नेह बढ़ा रहे थे वह विनू से ! माना विनायक अनाथ है तब क्या ? वह योग्य है, प्रतिभा-शाली सुन्दर नवयुवक है। पर क्या इसी से कोई इतने स्नेह का पात्र हो जाता है ?

और रीना को तो दम मारने का भी अवकाश नहीं। महिम बाबू कभी विनायक के लिये खीर बनवा रहे हैं, कभी मटर का पुलाव —कभी दही-बड़े। यह जो वह बुन रही है, विनायक का पुलोवर है, स्वेटर की ऊन लाई रखी है। रूमालों के लिये भी बढ़िया पापलीन लाई धरी है। रीना को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगता, पर क्या करे —पिता जी की आज्ञा जो ठहरी जिसका उलङ्घन असम्भव है।

विनायक भी खूब घुल मिल गया है। बेचारे ने कभी इतना प्यार काहे को देखा था। इतना प्यार एकदम पाया तो भूल बैठा स्वयं को। वह उन्हें अपना सगा समझने लगा। कभी बाबू जी के लिये गर्म चादर ले आता, कभी रीना के लिये फूल।

उस दिन वह आसमानी रंग की साड़ी खरीद लाया। महिम बाबू ने जब पूछा, तो सीधा सा कह दिया -"रीना के लिये है, क्या चिट्टी धोतियाँ पहनती है।"

महिम बाबू सन्न हो गये। रीना ने घुटनों में मुंह छिपा लिया। विनू बौखला गया—वह क्या जाने इन रीतों को-इन व्यवधानों को ?

महिम बाबू ने विनू को देखा—गोरा, चिट्टा, भोला-भाला बच्चों सा मासूम। उन्हें लगा, रन्तु फिर आ गया है। तभी उनकी दृष्टि रीना के ऊपर जा टिकी—दिल पर वज्र दे मारा किसी ने।

इस बात को तीन महीने बीत गये। महिम बाबू चुप चुप से रह रहे थे। रात रात भर कमरे में चक्कर काटते रहते। मन और मस्तिष्क के बीच घोर संघर्ष था-जैसे औचित्य अनौचित्य की मीमांसा कर रहे हों और एक दिन उनके सब तनाव, सब संघर्ष समाप्त हो गये, वह निर्णय पर पहुँच गये। और उन्होंने रीना को मन की बात कह दी। रीना के मुँह पर मुर्दनी छा गई। यह क्या कह रहे हैं पिता जी ? होश में तो हैं क्या ? परन्तु यह तो नशा भी नहीं करते।

स्नेहातिरेक से महिम बाबू बोले—"मैं पूरे होश में सोच समझ कर ऐसा कर रहा हूँ बेटी।"

रीना रो पड़ी—"ऐसी बात मत कहो—ऐसा सुनने से भी पाप होता है। वह स्वर्ग से मुझे देख रहे हैं—मेरी बाट जोह रहे हैं। आप क्यों कह रहे हैं पिता जी ? न‥न‥नहीं…… नहीं चुप चुप रहीये। यह आपको क्या हो गया पिता जी ?"

"तू नहीं जानती बेटी। रन्तु ने मरते समय मुझे क्या कहा था —"पिता जी रीना को—!" आह। वह बात भुलाए नहीं भूलती। जिस राह पर तू चल रही है, वह बड़ी कठिन है, बेटी। अपनी यह दशा बना तू कौन उसकी आत्मा को शान्ति दे रही है ? रन्तु की अमानत का यूँ मिट जाना मुझ से देखा नहीं जाता। स्वर्ण में जब वह पूछेगा—"पिता जी, आप तो उसे बेटी कहते थे, तब उसे तिल २ कर क्यों जलने दिया ? तब बता बेटी ! मैं क्या उत्तर दूँगा ?"

"नहीं ! यह नहीं होने का, नहीं होने का, हो ही नही सकता।।" रीना के स्वर में मरघट का सा सन्नाटा था।

"मैं कितनी यन्त्रणा में हूँ। रात दिन कितनी अन्तवेर्दना सहता हूँ। क्या अपने बूढ़े बाप का इतना भी कहा नहीं मानेगी ? मेरे लिये क्या इतना भी नहीं कर सकेगी ? तेरा बाप हूँ-बुरा नहीं करुँगा बेटी!

तेरा। तेरे लिये तो नहीं, यह सब तो मैं अपने स्वार्थ के लिये करुँगा—मेरी विकल आत्मा को चैन जो मिलेगा इस से।"

रीना का मुँह कुम्हला गया।

महिम बाबू फिर बोले—"और तुझे कहीं जाना तो नहीं होगा मुझे छोड़ कर—मेरे पास ही रहोगे तुम दोनों। विनू कितना अच्छा है, मुझे तो रन्तु में और उसमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। तुझे दुःख नहीं होने देगा बेटी! वह। मेरे इस सूने घर में फिर बहार आ जायेगी। बुढ़ापे के लिये मुझे रन्तु की जरूरत है बेटी! और रन्तु को विनू में खोज लिया है मैंने। बोलो बेटी! इस बूढ़े को भीख दोगी—अपने बाप को भीख दोगी?"

"ऐसा न करें पिता जी! ऐसा न करें। मेरी माँग का सिन्दूर विधाता ने पोंछ डाला है, उसे दुबारा ··न ··न नहीं····"

रीना को बीच ही में रोक महिम बाबू बोल उठे—यही "तेरी सूनी माँग दिन रात मेरी छाती पर साँप सी लोटती है बेटी! मुझे निराश न कर रीना। मेरे इन बूढ़े आँसुओं की लाज रख लो। मेरी खुशी मुझे लौटा दो। एक बार कह दे बेटी! कि तू विनायक से ब्याह कर लेगी -अपने लिये नहीं, मेरे लिए, हाँ! मेरे लिये।"

महिम बाबू की आँखों से गंगा उमड़ पड़ी। और रीना निरुत्तर हो गई।

ठीक दो महीने पीछे महिम बाबू की कोठी नई नवेली दुलहिन सी सजी थी। शहनाई का मधुर स्वर वातावरण को मादक बना रहा था।

किसी ने पूछा—"अरे, यहाँ क्या है?"

दूसरे ने उत्तर दिया—"वह सनकी जज महिम बाबू अपनी बहू का ब्याह रचा रहे हैं।"

भीतर महिम बाबू खूब भाग-दौड़ कर रहे थे। छिप छिपा कर आँखें भी पोंछ लेते। कभी विनायक का सेहरा ठीक करते, कभी रीना का घूंघट सम्भालते।

लगन का समय हो गया। मन्त्र पढ़ते-पढ़ते पंडित ने कहा—कन्यादान कौन करेगा ? संकल्प कौन देगा ?

अतीव आल्हादित कंठ से महिम बाबू ने कहा—मैं "दूंगा भई ! मेरी बेटी है न।"

घूंघट के पीछे रीना के आँसू बह चले ! विनायक ने चुपके से सेहरे को हटा किरकिरी निकालने के बहाने आँख पोंछ ली।

नई दहलीज

हारान मुखर्जी का स्वभाव भी विचित्र है। क्रोध में तो उनकी उग्रता अपनी चरम सीमा को छूने लगती है। बड़ी बड़ी रोबीली मूंछे, गठे हुए सुदृढ़ होंठ, लाल अंगारा सी आँखें, हर श्वास के साथ फूलते नथुने देख किसका दिल नहीं दहल जाता? उनका पुराना नौकर गणेश बेचारा एक टाँग के भार दौड़ता रहता है, फिर भी झिड़कियों गालियों की कड़वी-कसैली सी गोलियों को गले से नीचे उतारना ही पड़ता है। क्या करे बेचारा—अभ्यस्त हो गया है अब तो !

यह तो हुई क्रोध की बात, परन्तु हारान बाबू की प्रसन्नता भी

बुरी। क्षण ही भर में दर्जन के दर्जन नौकरों को आवाज लगाने लगते हैं। वह गरीब दम फुलाये, हाँफते भागे आते हैं, तब हारान बाबू को भूल जाता है कि उन्होंने उन्हें बुलाया है! नौकरों की लाईन सामने देख बाबू जी का पारा एक दम ऊपर पहुँच जाता है—"साले हराम ख़ोर, क्या मेरी अर्थी उठने वाली है, जो काम धाम सब छोड़ यहाँ भागे चले आ रहे हो!

सूअर! काम चोर!! अगले महीने सब को अलग न कर दिया, तो तुम भी क्या जानोगे।"

वह सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगते हैं, हैरान-परेशान सिर झुकाये वापिस चले जाते हैं! उनका जाना था कि बाबू जी को फिर काम याद आ गया, फिर आवाजों पर आवाजें—उन बेचारों की जान सांसत में।

परन्तु सारा दिन गालियाँ खाने पर (गालियाँ ही नहीं कई बार झांपड पड़ने पर भी) नौकर हारान बाबू के घर से जाना नहीं चाहते थे! बाबू जी बाहर से जितने कठिन, कठोर और रौद्र थे, भीतर से उतने ही सीधे, कोमल और सरल थे! लापड़ झापड़ के बाद नौकरों को रुपल्ली दो रुपल्ली मिठाई को दे देते!

हारान बाबू लड़कपन से ही जिद्दी थे। बचपने का हठ बड़े होने पर क्रोध में बदल गया। माता-पिता ने अनगिनत मनौतियों के बाद हारान बाबू को पाया था, सो उनके मुँह से कोई बात निकलती पीछे थी, पूरी पहले हो जाती थी। बच्चे के प्रत्येक हठ की पूर्ति वह जी जान से करते। बालपन में एक बार हारान बाबू स्कूल जाते माँ से कह गये कि आज उनके लिये पिछाड़े की बगिया की तल्लैया की नीली और सुनहरी मछली का शाक बनाया जाये। माँ ने भूल से रुपहली मछली रांध दी, बस फिर क्या था। हारान बाबू पहले तो घन्टों सिर के बालों को नोच कर भगवान से शिकायत करते रहे कि

भगवान ने उन्हें माँ-बाप नहीं पिछले जन्म के शत्रु दिये हैं, जो उन्हें दुःख पहुँचाने में ही आनन्द अनुभव करते हैं। रो-धो चुप हो कर, पाँच सौ रुपये का रेड़ियो खिड़की से बाहर फेंक दिया, मूल्यवान् फूलदान तोड़ डाले, बढ़िया कालीनों पर नीली काली स्याही की दवातें उंडेल दी।

बड़े हुए, तब शहर के नामी वकील बन गये। बस शौक था वकालत का, नहीं तो माँ-बाप इतना धन छोड़ गये कि पोते-पोतियाँ भी दोनों हाथों से उलीचते, तब भी न चुकता। अदालत में खड़े हो बहस करते, तो जज भी कांप जाता। एक बार जज ने बहस करते टोक दिया। हारान बाबू की आँखों में खून उतर आया, कागज पत्र जज के मुँह पर दे मारे और चले आये फिर कभी कोर्ट का मुँह न देखा। ऐसे हैं अपने हारान बाबू।

हाँ, तो आज बड़े खुश हैं—बड़े ही खुश। वायु में उड़ते-उड़ते से फिर रहे हैं! "हारान विला" दुल्हिन सी सजी है। बन्दनवार झण्ड़ियाँ, फुलझड़ियाँ, पटाखे, बस क्या कहना। पण्डित हवन कर रहे हैं। हवन की सुगन्धि से वायु मण्डल महक उठा है। गणेश को तो आज दम मारने की फुर्सत नहीं। आज हारान बाबू की झिड़कियाँ उसे जलेबियों सी रसदार लग रही हैं। आज चार वर्ष पश्चात् छोटे बाबू ईशान विलायत से बड़े इंजीनियर बन कर आ रहे हैं। स्नेह से अभिभूत सा हो रहा है गणेश! आँखें भर आती हैं, तो हंस पड़ता है। हँसना चाहता है, तो मन भर आता है। ईशान पर उसका बड़ा नेह है—बड़ी ममता है। बीबी जी के मरने के पीछे गणेश ने ही उसे पाला है! गणेश दिन रात ईशु को पीठ पर लादे घूमता था, और नन्हा सा ईशु जब तोतली बोली में उसे 'बाबा' कहता, तो गणेश खुशी से फूल फूल सा उठता। वही ईशु, उसका ईशु आज आ रहा है। पिता से उसके स्वभाव का इतना ही अन्तर है जितना रात का दिन का। सौम्य, विनम्र, लज्जाशील ईशान उदार भी कम नहीं।

घर की गाड़ी ईशु को लेने जा चुकी है। हारान बाबू नहीं गये, भीड़-भिड़क्के में उनका जी मचलाने लगता है, सो लॉन में बेचैनी से घूम रहे हैं। दृष्टि बार बार घड़ी के ऊपर उठ जाती है।

कार आ कर रुकी। नौकर-चाकर काम छोड़ बाहर भागे आये। हारान बाबू का मन बल्लियों उछलने लगा—कार का दरवाजा खुला ईशान बाहर आ गया। गणेश अपने को रोक न सका, जोर से रो पड़ा ! हारान बाबू सकते में आ गये। ईशु इतना सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व वाला निकलेगा, उन्होंने सोचा तक नहीं था। लम्बा कद, सुगठित शरीर, पुष्ट कन्धे, प्रतिभाशाली मुख मण्डल, अधरों का वह प्यारा कोण जिस से उसके मुस्काने का भान होता ऐसे पुत्र को पा कौन पिता अभिमान से फूल न उठेगा ? ईशु ने अपने पिता के पैर छुए, बाबू जी का जोरदार स्वर भी आशीर्वाद देते रंचिक भीग गया। इसके पश्चात ईशान गणेश के पैर छूने बढ़ा। गणेश का भी वह पिता के समान आदर करता था। गणेश फूट-फूट कर रो उठा, मन का आवेग सम्भाले न सम्भलता था।

एकाएक हारान बाबू खिलखिला कर हंस पड़े, यह ईशु अब ईशान मुखर्जी बन गया है। कल की तो बात है जब नंग धड़ंग, बहते नाक से गणेश की उंगली पकड़े घूमता था। सहसा दिवंगता पत्नी की स्मृति से उनकी कोर में जल छलक पड़ा। वह भी ठीक ईशु जैसी ही थी, अप्सरा सा रूप, देवी सा स्वभाव। उसकी एकमात्र यही निशानी है। मरते समय उसने कहा था—"मेरे ईशु को कभी दुःखी न होने देना।" और हारान बाबू पूर्ण निष्ठा से उसकी बात रखते आ रहे हैं। उन्होंने ईशु को कभी किसी वस्तु का अभाव न होने दिया। बचपन में जब ईशान उनकी मूंछे पकड़ लेता, तो पल भर को उनकी आँखे अंगारा बन जातीं, पर हँस कर रह जाते। पाजी ! शैतान !! कह एक प्यार भरी चपत लगा देते।

राते गए तक पार्टी की चहल पहल रही। ईशान अपने पुराने मित्रों से हंसता खेलता रहा।

ईशान को बड़ी अच्छी नौकरी मिल गई। प्रातः जाकर सन्ध्या को लौटता। चाय पीकर टेंनिस खेलने चला जाता। रात को पिता पुत्र खाना खाते, और कुछ देर पढ़ कर ईशु सो जाता था या घड़ी दो घड़ी गणेश से बातें करता।

× × × ×

उस रात अचानक हारान बाबू की आँख खुल गई। ईशु के कमरे की बत्ती जल रही थी। चादर ओढ़ कर वह बाहर आये, किवाड़ की दरार में से झांक कर देखा। ईशु आराम कुर्सी पर बैठा था, एक हाथ माथे पर था, मुँह पर गहन चिन्ता का भाव था। विचारों में वह इतना लीन था कि उसे पिता की पद्चाप भी सुनाई न दी।

हारान बाबू कुछ घबरा गये, कहीं ईशु की तबीयत खराब न हो। परन्तु तत्क्षण ही यह विचार मस्तिष्क से निकाल दिया। सोचा, यह यौवन है, सौ तरह की चिन्ताएं होती हैं। ईशु की तल्लीनता भंग किये बिना वह दबे पाँव बाहर आ गये।

ईशु ने खिड़की से झांका—उसे लगा, आज चाँद मिट्टी के दिये की भाँत बुझा-बुझा सा है। फिर चाँद खो गया, वहाँ का दीन मुख मण्डल साकार हो गया। सिहर कर ईशु ने दृष्टि फेर ली—ओह ! उधर भी यामा। यामा क्यों उसके मन प्राणों में समाने लगी है ? उसके आफिस में मामूली सी क्लर्क है। लम्बी छरहरी, उदास सी दिखने वाली यामा एक माह पूर्व नौकरी मांगने आई थी। बी. ए. पास थी। पिता अपंग है, हिल-डुल भी नहीं पाता। कोई भी स्थान रिक्त नहीं था, सो कागज पर ही दृष्टि गड़ाये ईशु ने कहा—"हमें खेद

है, हमारे पास कोई खाली जगह नहीं।" और कार्य में व्यस्त हो गया।

एक घन्टे बाद काम समाप्त कर जब ईशु चलने को उठा, तो वह जड़ सी वहीं खड़ी थी, दृष्टि मिल गई ! वह पनियारी, करुण, मर्म भेदी आँखें ईशु के मन में उतर गईं। नील गगन सी गहरी बड़ी आँखें, क्या था उनमें ? क्या प्रणय का मूक निमन्त्रण ! नहीं ...... क्या लज्जा के रेशमी डोरे ? नहीं.... क्या मद के छलकते चषक? नहीं ... नहीं .. नहीं !

उनमें थी वेदना, व्यथा और निराशा। आँसू नहीं थे, पर कुछ ऐसी शून्यता थी जो हृदय चीर के रख देती है। ईशु द्रवित हो उठा, उसको जगह दे दी। वह यामा उसके मन-प्राण में समाती जा रही है। क्या उसे यामा से प्रेम हो गया ? यह सोच कर ही ईशु सिहर उठा पिता का रौद्र मुख मण्डल आँखों में घूम गया।

आज हारान बाबू घूमने गये हैं। सुबह उनके बचपन के मित्र सुरेश जी आये हैं। बड़ी दोस्ती है दोनों में। दोनों के स्वभाव में राई भर का अन्तर नहीं। दोनों घूमने के शौकीन हैं। हारान बाबू का अकेले घूमने का दिल नहीं होता, पर सुरेश जी आये हैं, तब एक पल भी घर नहीं टिके। बात चलते चलते ईशान पर आ गई, तो सुरेश जी बोल उठे—"हारू, तुमने अपनी आरती को तो देखा है। भला ईशु की और आरती की जोड़ी कैसी रहेगी ? हारान बाबू खिल गये, लो इतनी छोटी सी बात भी आज तक उनके दिमाग में नहीं आई। उनका हाथ अपनी मूंछों पर चला गया। पोते की कल्पना से वह पुलकित हो उठे, बोले—"इसमें पूछने की भला क्या बात है, ईशु तुम्हारा ही बेटा है सुरेश।"

× × × ×

घर में शादी की तैयारियाँ होने लगीं। इस चहल-पहल को देख ईशु का दिल डूबने लगता। पिता के समक्ष जाते ही साहस डोल जाता। सारी सारी रात जागते बीत जाती। यामा का करुण मुख हर पल सामने घूमता रहता। अभी कल ही यामा ने उससे कहा था—"मैं तो जन्म की अभागी हूँ, ईशान बाबू ! मेरा आपका साथ हो भी कैसे सकता है ? आपके चरणों की सेवा कर पाऊँ, ऐसा भाग मेरा कहाँ ?"

सांझ गये ईशु ने कार निकाली, सीधा यामा के घर पहुँच गया। यामा उसको असमय आया देख चकित हो गई। आँचल गले में डाल ईशु के चरण छुए। ईशु ने गम्भीर स्वर में कहा—"यामा, मेरे साथ आवो।" बिना कुछ पूछे कार में बैठ गई, शहर से कितनी ही दूर ले जाकर कार रोक दी। यामा का हाथ थाम कर बोला—"मैं तुम्हारा भाग्य बदल दूंगा यामा ! आकाश और धरती को साक्षी देकर आज मैं तुम्हारा वरण पत्नी के रूप में करता हूँ। अब कोई भी दुर्बलता हमें पृथक् न कर सकेगी।"

यामा रोती रही—"यह आपने क्या किया ? पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये था आपको।"

ईशु ने बिन कुछ बोले यामा के आँसू पोंछ दिये।

× × × ×

आत्म-विश्वास की दृढ़ता ले ईशु ने पिता के कमरे में प्रवेश किया। चाँदी की मूठ वाला हुक्का गुड़गुड़ाते हारान बाबू ने कहा—"आओ।"

क्षण भर को ईशु का मन कांपा, फिर साहस कर बोला—"पिता जी, यह शादी नहीं होने की।" "क्या ?" हारान बाबू इतनी जोर से गरजे कि उनकी आवाज फट गई। ईशु के मुँह से यह वाक्य

सुनना उनके लिये साँतवे आश्चर्य जैसा ही था। अप्रत्याशित सी चीज थी। दहाड़ कर उन्होंने कहा—"यह तू कह रहा है रे जिसके दूध के दाँत नहीं टूटे। साले ! तेरे मुँह से दूध की बू नहीं गई अभी। तू मेरी बराबरी करता है। यह शादी होगी, होगी, जरूर होगी।"

अपने स्वर को बहुत ही संयत करके ईशु बोला—"परन्तु पिता जी मेरी शादी हो चुकी है।"

"कौन है वह ?" हारान बाबू की उग्रता अपनी चरम सीमा को छूने लगी।

"यामा घोष—मेरे ही आफ़िस में क्लर्क है। निर्धन है, पिता अपंग है उसका।"

"खानदान की नाक कटवा अब अपनी करतूत जताने आया है।"

डरते-डरते ईशान ने कहा—"जी आपका आशीर्वाद चाहता हूँ।"

जलते पर घी डाल दिया ईशु ने। बाबू जी चिल्लाये—"सूअर! पाजी ! हराम खोर ! दूर हो जा मेरे सामने से।"

दमे की पुरानी शिकायत उभर आई। ईशु ने आगे बढ़ कर थामना चाहा, तो उन्होंने उसके मुँह पर थूक दिया—'खबरदार जो मुझे हाथ लगाया। तू मेरे वंश का दीपक नहीं कलंकी ! मेरे खून से कोढ़ पैदा हुआ। इसी वक्त निकल जाओ, फिर कभी यहाँ दिखाई दिया, तो टाँगें तोड़ दी जायेंगी।"

ईशु सिर झुकाये घर से निकल गया। गणेश चौखट से लगा रो रहा था, और बाबू जी को अपनी सुध न रही।

ईशान घर से निकल निरुद्देश्य भटकता रहा कितनी ही देर। मस्तिष्क में महान संघर्ष चल रहा था। आत्म ग्लानि से उसकी

आत्मा फटी जा रही थी। जीवन में प्रथम बार वह पिता के समक्ष बोला था। पिता का अपमान करने का उसका निश्चय न था, पर वह भी उलझ गया था। दो तीन घन्टे भटकने के बाद वह यामा के घर गया। मुँह अन्तर्वेदना से काला पड़ गया था। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सा वह चारपाई के ऊपर कटे केले सा गिर गया। नारी पुरुष को पहली दृष्टि में पढ़ लेती है। यामा देखते ही समझ गई। बैठ कर चुपचाप तलुए सहलाने लगी। ईशु ने यामा की ओर देखा। रोकते रोकते एक गहरी निश्वास उसके मुंह से निकल गई—इस निरीह नारी को सहारा देकर उसने क्या पाप किया है? कौनसी भूल की है? नहीं, यह पाप नहीं, यह भूल नहीं। मन का ज़्वार भाटा शान्त हो गया, और वह यामा से बातें करने लगा।

इधर हारान बाबू को आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास था कि ईशु शीघ्र ही अपनी भूल अनुभव करेगा, और क्षमा माँगने आयेगा।

उनका विश्वास केवल विश्वास ही रह गया, कार्यरूप में परिणत न हुआ। ईशु नहीं आया, उसांस भर कर उन्होंने सोचा, आयेगा भी कैसे? बेटा तो उन्हीं का है न। टूटे दिल से सब हाल सुरेश जी को लिख दिया।

इसको काफी समय बीत गया। ईशु दूसरे मुहल्ले में रहने लगा था, यामा और उसके अपंग पिता के साथ।

परन्तु हारान बाबू का क्रोध शान्त नहीं हुआ था। नौकरों को सख़्त मनाही थी ईशु के साथ बोलने की! यामा पर तो उनको बेहद गुस्सा था। उसी ने उनके पुत्र को उनसे छीन लिया है। एक दिन तो वह स्लीपर पहने पहने ही ईशु के यहाँ चल दिये। ईशु किवाड़ पर ही मिल गया। उसने हाथ जोड़ पिता को प्रणाम किया, तो बड़े प्रेम से आशीर्वाद देकर बोले—"ईशु बेटे, मैं तुझे लेने आया हूँ। मैं जान गया हूँ, तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह उसी भिखमंगी छोकरी की

करतूत है, जिस की आँख तेरी दौलत पर है। पिता की बात सुन उसके गौरवर्ण में लालिमा झलक आई। काँपते स्वर में बोला—"पिता जी, आप मेरी पत्नी का अपमान नहीं कर सकते।"

"मुझे शिक्षा देता है! शर्म नहीं आती? शर्म नहीं आती नालायक! बाप को उपदेश देते? नालायक़! याद रख मेरी जायदाद में से फूटी कौड़ी भी नहीं मिलेगी। समझ लूंगा, मेरा बेटा मर गया, मेरा ईशु मर गया। तू मेरा कुछ नहीं, मैं तेरा बाप नहीं! याद रखो, कान खोल कर सुन लो, आज के बाद जीवन में कभी तुम्हारे दरवाजे की दहलीज पर पाँव नहीं रखूंगा।" इतना कह कर इतने जोर से पाँव दहलीज पर पटका कि वह चरमरा कर रह गई। वह बड़बड़ाते चले गये।

यामा रसोई घर में थी, ससुर के आने का उसे पता ही न चला।

एक वर्ष बीत गया। सचमुच ही पिता पुत्र एक दूसरे से नहीं बोले। बाजार में भेंट हो जाती तो बाबू जी मुँह फेर लेते, ईशु दृष्टि झुका लेता। मित्रों में जिक्र चलता, तो हारान बाबू सुन कर हंस कर टाल देते।

एक दिन हारान बाबू धूप ताप रहे थे कि गणेश ने लाकर एक नीला लिफाफा दिया। खोला, पढ़ा तो मूंछें फड़क उठीं—साले ईशान की इतनी हिम्मत! लड़का हुआ है, तो मैं क्या करूँ। भाड़ में जायें सब।"

गणेश ने यह शुभ समाचार सुना, तो खुशी से फूल उठा। पाँव धरती पर नहीं पड़ते थे।

नित्य के नियमानुसार सन्ध्या को बाबू जी घूमने चल दिये। लोगों ने बधाईयों के ढ़ेर लगा दिये। रोम-रोम जल उठा उनका।

बाबू जी का जाना था कि गणेश धुली धोती कुर्त्ता पहन, उजला साफा बांध, बाजार से लड्डू लेकर ईशु के यहां पहुँच गया। ईशु गणेश को आया देख प्रसन्न हो उठा, मन में आशा का दीप जला। सम्भवतः पिता जी का दिल इस शुभ समाचार से पसीज उठा हो। किन्तु बाद में जब पता चला कि गणेश चोरी से आया है. तो निराश हो उठा। गणेश बड़ी देर तक बच्चे को खेलाता रहा, बोला—"लल्ला तो बिलकुल बड़े बाबू जी को पड़ा है।"

इसके पश्चात् गणेश जब-तब चोरी-छिप्पे लल्ला को देख आता। बच्चे के लिये खिलौने ले जाता। यामा बहुतेरा रोकती, पर वह कब मानने लगा था।

उस दिन गणेष खिलोनों का अगोछा भरे ईशू के यहाँ जा रहा था। राह बीच मिल गये हारान बाबू। उस बेचारे को काटो, तो खून नहीं।

हारान बाबू सब समझ गये। आहत शेर की तरह दहाड़े—"साले! जबान पर क्या ताला पड़ गया है? जिस में खाता है, उसी थाली में छेद करता है चल वापिस।"

गणेश की जीभ जैसे तालू से जा सटी। भय से चिट्टा पड़ा वह बाबू जी के पीछे हो लिया। खिलौने बाबू ने अपने कमरे में रखवा लिये, और गणेश को कड़ी चेतावनी दे दी कि कभी वहाँ जाते देख लिया, तो नौकरी से अलग कर दिया जायेगा।

रात को हारान बाबू की नींद ऊब गई सोजाने का लाख यत्न किया, पर असफल रहे। तब बिजली जला कुछ पढ़ने लगे। पढ़ने में भी तबीयत न टिकी। वह परेशान से थे। चेतन ईशू का नन्हा सा बालक था—पर वह इस बात से अनभिज्ञ थे। एकाएक उनकी दृष्टि खिलोने के ऊपर पड़ गई, इनसे खेलने वाले के नन्हें मुन्ने हाथ पैरों की

कल्पना में वह खो गये। वह सोचने लगे, यदि ईशू ने उनकी बात मानी होती, और यह बालक आरती के पैदा हुआ होता, तो क्या वह गणेश के दिये इन सड़े गन्दे खिलौनों से खेलता ? रात्रि के तीन बज गये इसी ऊहापोह में !

जितना ही ईशान के बच्चे का ध्यान भुलाने की चेष्टा वह करते उतना ही वह याद आता जाता। उन्हें बेचैनी सी लग गई, चारों ओर ईशान का बालक दीख पड़ने लगा। समस्त कठोरता पाँच माह के बच्चे की कल्पना में धुल गई। अपने को न रोक रात के तीन बजे ही गणेश की कोठरी में पहुँचे।

आज पहली बार वह गणेश की कोठरी में आये थे। उसे जगाया, तो उसकी सिट्टी पिट्टी गुम हो गई—अब खैर नहीं। बाबु जी उसकी कोठरी में। हारान बाबू खटिया पर बैठ गये। गणेश धरती पर बैठने लगा, तो स्नेह से वह बोले—"ऊपर बैठो भाई।

वह हैरान हो गया। जीवन में प्रथम बार वह हारान बाबू को इस स्वर में बोलते सुन रहा था। आश्चर्य जनक परिवर्तन ! सपने की सी अवस्था में बहुत धीमे स्वर में बोले—"तूने तो देखा है उसे गणेश, कह तो कैसा है ईशु का बालक।"

पहले तो गणेश सन्न सा हो गया, बाबू जी उसे परख तो नहीं रहे कहीं ? पर उनके मुँह की ओर देखा, तो वहाँ ममता का सागर हिलोरें लेते पाया। खो गया वह—"लल्ला की पूछ रहे हैं मालिक ? वाह ! क्या रूप है बिल्कुल आप को पड़ा है। खूब मुटका सा है, वे बड़ी बड़ी काली आँखें, नन्हीं सी दो दन्तुलिया। ठुमक ठुमक ठुमकता है। बाबा माँ माँ करता है। कृष्ण कन्हैया है मालिक !' यह सब सुन हारान बाबू को ऐसा जान पड़ा उनके भीतर कहीं कुछ टूट गया है। सिर झुकाये अपने कमरे में लौट जाये। सारी रात विकलता से घूमते

रहे। जिसे देखा नहीं, उसी बच्चे ने मोह की जंजीरों से जकड़ लिया उन्हें !

× × × ×

उस दिन रविवार था। ईशु अभी सोकर नहीं उठा था। यामा बच्चे को नहला रही थी। पानी पड़ते ही लल्ला ने शोर मचा दिया। शोर-शराबा सुन ईशु भी आखें मलता आ गया। कुछ देर लल्ला से खेल वह अखबार पढ़ने लगा। परन्तु लल्ला की शरारतें उसे ध्यान से पढ़ने नहीं दे रही थीं। तभी किवाड़ पर खट-खट हुई। ईशु ने किवाड़ को खोले, तो बाहर चार पाँच राज-मजदूर अपने औजार लिये खड़े थे। ईशान अप्रतिभ सा होकर बोला—"हमारे यहाँ कुछ भी मरम्मत होने को नहीं, तुम लोग गलती से यहाँ आ गये हो ?"

एक मजदूर ने हँस कर जवाब दिया—"आप ही ईशान मुखर्जी हैं न ?"

"हूँ !" ईशु ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया तब तक यामा भी आकर ईशु के पीछे खड़ी हो गई थी।

उस मजदूर ने कहा—"तब हम ठीक स्थान पर आये हैं—हमें इस पुरानी दहलीज को उखाड़ नई दहलीज लगाने की आज्ञा मिली है। आज रविवार है इस कारण दुगनी मजदूरी दी गई है। भाईयो काम शुरु करो।"

चकित हो ईशु ने पूछा—"तुम्हें आज्ञा किसने दी है आखिर?"

"माल रोड़ वाले हारान मुखर्जी ने," उत्तर मिला। तब तक मजदूरो ने पुरानी दहलीज को उखाड़ दिया था।

ईशान ने यामा को देखा और हँस हँस कर दुहरा हो गया।

उसे पिता के शब्द याद आ गये –"आज के बाद जीवन में इस दहलीज पर पाँव नहीं धरूँगा।"

यामा के कन्धे झंझोड़ कर वह बोला—"यामा, पिता जी पुरानी दहलीज पर पैर नहीं रखेगें न, सो नई लग रही है। लगता है लल्ले के सितारे जोरदार हैं। दादा हैं न भई! पोते का मोह खेंच रहा है, क्यों ?

यामा लजा गई।

ईशु ने लल्ला को हवा में उछाल दिया।

एक धागा सूत का

"पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ पुरुष जाति का अहं संसार को प्रत्येक वस्तु पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है, पर जब प्रभुत्व स्थापन की कामना असफलता को छूती है, तो पुरुष तिलमिला जाता है। है न ?"

"तुम गलत धारणा मत बनाओ। मैं तो केवल प्रेम के अधिकार के नाते ....।"

"प्रेम, दया, क्षमा—ये सब पुरुष के अस्त्र हैं—नारी को बांधने के—उसे परास्त करने के—उसके भीतर के स्वाभिमान के

अन्तिम् अंश को भी कुचल डालने के। तुम प्रेम की बात करते हो ! तुम ...तुम लोग तो प्रेम के प्रथम सोपान को भी नहीं छू सकते। अपने इस अहंकार का बोझ ले तुम प्रेम को समझने का दम भरते हो ?"

"परन्तु चारु क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती ?"

"चारु तुम्हारे लिये जीवन दे सकती है। चारु की एक एक श्वास अनुग्रह की है, परन्तु वह युग बीत गया अनुग्रह, जब नारी पुरुष की छाया के बिना कुछ भी नहीं थी—शून्य थी। प्रेम एक सम्बल हो सकता है, जिसका अवलम्ब ले हम आगे बढ़े,.... पर तुम लोगों ने प्रेम की लक्ष्मण-रेखा के भीतर नारी की विवश आत्मा को क़ैद कर रखा है। इसलिए आज वह नगण्य है, उसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं, अन्तर में शक्ति का ज्वालामुखी लेकर भी वह अबला है। आज की नारी लक्ष्मण-रेखा के भ्रम को तोड़ देगी। दिशाओं में उठ रहे उन्नति के आह्वान को नारी नहीं ठुकरायेगी।" इतना कहते कहते रो पड़ी चारु—"तुम समझते क्यों नहीं अनुग्रह ! कितनी छोटी सी बात है। फिर कोई अपमान या लज्जा की बात भी तो नहीं।"

खिड़की के पर्दे को जरा हटा, मानसिक वात्या चक्र को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते अनुग्रह ने कहा—'मैं सब समझता हूँ चारु, पर माँ का कहना कैसे टालू।"

चारु के आँसू सूख गये—"माँ के लिए तुम्हारा कर्त्तव्य है—ठीक है—वह तुम्हारी जन्मदायिनी है। पर क्या उस नारी के लिए तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं जिसने अनदेखे अनपरखे पुरुष के लिए माँ बाप, भाई, बहन, संगी-साथी, सब को छोड़ दिया, जिसका व्यक्तित्व तुम्हारे व्यक्तित्व में लय हो गया है ! माँ की बात टालने को मैं कहती ही कब हूँ, मैं तो केवल अपनी बात समझने को कहती हूँ।"

इस बार अनुग्रह ने कोई उत्तर न दिया।

अनुग्रह की आँखों में आखें डाल, उनकी क़मीज के बटनों से खेलती, अतिशय अनुराग में भर कर चारु फिर बोली—"मान जाओ, अनुग्रह। सब तैयारी हो चुकी है दो दिन ही तो रह गये हैं। मैं छोड़ भी देती, पर मेरा ही पार्ट सब से बड़ा है। इतनी जल्दी कोई दूसरा कैसे तैयारी करेगा। यह साँस्कृतिक कार्यक्रम है अनुग्रह फिर देश के अपंग बच्चों की सहायतार्थ है। आखिर बुराई क्या है इसमें ?"

"मैं स्वयं कोई बुराई नहीं समझता चारु, पर माँ नहीं चाहती कि उनकी कुलवधू साँग भर कर पराये पुरुषों के सामने नाचे-गाये। तुम्हीं क्यों नहीं मान जाती ? घर की शान्ति भंग हो रही है।"

लाल हो गया उसका मुख—"नहीं, मैं नहीं मान सकती। मैं समाज में अपमान नहीं सह सकती। तुम आज के युग में रह कर भी तीन सौ साल पुरानी बात करते हो।"

"तुम समझ लो चारु, बुरा होगा.........। बहुत बुरा होगा।" कह कर अनुग्रह घर से बाहर चल दिया।

चारु पलंग पर पड़ रही। उसकी दाई आँख फड़क रही थी। उसे स्वप्न में भी इस बात की आशंका नहीं थी कि अनुग्रह उसकी बात टाल देगा। कला-केतन की ओर से हो रहे "अभिज्ञान शकुन्तल" नाटक में वह भाग ले रही है। अनुग्रह पर विश्वास करके उसने अनुग्रह से बिना पूछे ही अभिनय करने की अनुमति दे दी थी। अनुग्रह एक प्रगतिशील युवक है, चारु नहीं जानती थी कि वह इस में कोई बुराई समझेगा। सास पर उसे जरा भी क्रोध न था—वह तो पुराने विचारों की, रुढ़ीवादी महिला थी, किन्तु अनुग्रह तो जानना है कि संसार प्रगति के पथ पर कितनी तीव्रता से अग्रसर है। वह माँ को समझा सकता है।

अन्तर्द्वंद्व से विकल चारु उसी प्रकार लेटी रही। रात हो गई

थी, बत्ती भी न जलाई उसने। रसोई घर में बर्तन ठनका-ठनका कर सास ने यह बता दिया था कि भोजन बन चुका है। कुछ खाने की चारु की रुचि नहीं हुई।

अनुग्रह काफी रात गये आया। चारु को सोई जान सीधा मां के पास चला गया। मां ने भोजन को पूछा, तो अनुग्रह ने बहाना बना कर टाल दिया।

दो बजे तक अनुग्रह मां के पास ही बैठा रहा। मां बराबर बोलती रही—अनुग्रह हूँ हाँ ! भर कर रहा था।

लड़खड़ाते पाँवों से घिसटता सा अनुग्रह अपने कमरे में आया। खिड़की के झीने पर्दे में से चाँदनी छन-छन कर चारु के सुन्दर मुख पर पड़ रही थी। मोहित सा हुआ अनुग्रह चारु की लावण्यमयी रूपज्योति को निरखता रहा, फिर हूक सी ले उसकी बगल में पड़ रहा।

दोनों एक ही चारपाई पर पड़े थे, किन्तु ऐसा लगता था कि दोनों के बीच सहस्त्रों योजनों का अन्तर हो। सारी रात अपने-अपने विचारों में खोये दोनों जागते रहे—सोने का बहाना सा किये रहे।

अगले दिन अनुग्रह ने फिर चारु को समझाने का यत्न किया, तो वह दृढ़ता से बोली—"इस में किसी की कोई हानि नहीं, फिर यह कोई ऊल जलूल ड्रामा कम्पनी का अश्लील नाटक भी नहीं।"

"इतनी हठी न बनो, चारु।"

"मेरे हठ को तुम जानते हो ! अभी दो बरस पहले की बात तुम को याद होगी, जब चारु ने माता-पिता, समाज-संसार के विरोध की परवाह न कर तुम से ब्याह किया था।"

विरोध से तनाव उत्पन्न होता है, और तनाव टूट-फूट के बाद ही समाप्त होता है। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़ गये, कोई भी झुकने को तैयार न था।

चारु को मान था कि जिस अनुग्रह के लिये उसने सबको छोड़ा वह उसकी रत्ती भर बात नहीं मानता।

अनुग्रह को आक्रोश था कि चारु उसके प्रेम की अवहेलना कर रही है।

"मैं अपने बौद्धिक विकास में कोई बाधा स्वीकार नहीं कर सकती।" चारु ने निर्णयात्मक लहजे में कहा।

"और मैं माँ का कहा किसी भी तरह नहीं टाल सकता।" यह अनुग्रह था।

झगड़ा तूल पकड़ गया। दोनों में तलाक़ हो गया। कोर्ट में पवित्र अनुबन्ध को तोड़ते दोनों में प्रकम्प सा हुआ।

चारु ने सोचा—"इतना पावन बन्धन हस्ताक्षर मात्र करने से समाप्त हो गया !"

अनुग्रह का अन्तरस् विषाद से घिर गया......"यह चारु अब उस की कुछ भी नहीं !"

डगमगाते पाँवों से दोनों घर आये। दो वर्ष पूर्व दोनों दो तन एक प्राण होकर आये थे इस घर में......और आज दो निपट अनजान अलग-अलग राहों के राही !"

अनुग्रह माँ के पास चला गया। चारु सामान समेटने लगी। अनुग्रह की एक आकर्षक सी तस्वीर उठा उसने ट्रंक में रख ली, फिर सोचा—"क्या करुँगी इसका ? अब अनुग्रह मेरा कौन है ?" सो ली नहीं।

जाते समय उसने सुना, सास कह रही थी—"तू दुःखी न हो अनु, मैं तेरी दूसरी शादी कर दूंगी।" एक आघात सा लगा चारु के मर्म पर ...पर स्वयं को सम्भाल लिया।

चौरंगी पर खड़ी हो सोचा—"अब कहाँ जाऊँ ? बाप के घर

जाना ठीक नहीं होगा। पिता की चुप्पी, माँ के आँसू, भाइयों की उपेक्षा, भाभियों की दबी-दबी हंसी ....यह सब मुझ से कब सहा जायेगा ? इस अनन्त संसार में अपने नीड़ के लिये तिनके स्वयं ही चुनने होंगे।"

दूसरे शहर में आकर चारु स्कूल में अध्यापिका लग गई। एक कोठरी किराये ले ली। स्कूल से आ बेजान सी पड़ रहती। रोटी का क्या था ...... खा लेती तो खा लेती, नहीं तो न सही। कभी-कभी स्कूल के बच्चे आ जाते, तो उनमें रम अपना दुःख दर्द भूल जाती। चारु मुरझा रही थी। सोचती—'यह पुरुष जाति भी बहेलियों की जाति है। इनके लिए विवाह एक सुदृढ़ सींकचों वाला पिंजरा है निरीह नारी के पंख काट जीवन भर बन्दी बना देते हैं जिसमें ...।

दो महीने बीत गये घर छोड़ कर आये—अनुग्रह को छोड़ कर आये। एक दीर्घ निश्वास ले चारु ने मन में कहा—"अभी तो दो महीने ही बीते हैं, दो साल भी बीत जायेंगे। अनुग्रह ने तो ब्याह कर लिया होगा।" ... ...घड़ी पर दृष्टि पड़ी, तो झुंझला कर शीघ्रता से साड़ी बांधने लगी ...... स्कूल को अबेर हुई जा रही है ! साड़ी की तह में से अनुग्रह का चित्र छिटक कर दूर जा पड़ा। धक् से हो गई वह ... नयन भर आये........"यह चित्र कैसे आ गया ! मैं तो वहीं छोड़ आई थी। यह अनुग्रह कभी मेरा था ! ....अब ....!"

चित्र को मेज पर रख सैंडल पहनने लगी। तभी जोर का जी मिचलाया, और उल्टी आ गई। उस दिन चारु से पढ़ाया न गया। अगले दिन फिर दो तीन उल्टियाँ आई, तो घबरा कर वह डा० मिस चक्रवर्ती के पास गई। मिस चक्रवर्ती की बात सुन कर चारु का मुँह रुई सा सफेद हो गया। वह माँ बनने वाली है !

मैं अनुग्रह के बच्चे की माँ बनने वाली हूँ.......! चारु इतना

रोई कि तकिया भीग गया। कोई एक शब्द सहानुभूति का कहने वाला नहीं था पास में।

नौ महीने पीछे हिमश्वेता सी सौंदर्यमयी बच्ची को चारु ने जन्म दिया। जड़ सी हो गई "आह ! इसके जन्म पर मैं हँसूं या रोऊँ ? मेरे और अनुग्रह के रक्त-माँस से इसका जन्म हुआ है। मैं इस की माँ हूँ—अनुग्रह इसका बाप है—पर हम दोनों क्या हैं ? क्या सम्बन्ध रह गया हम में ?"

समय अपनी गति से चलता गया। शेरी चार वर्ष की हो गई। परियों की राजकुमारी सी सुन्दर शेरी ·· जो देखे, चूमने का जी हो आये। वाचाल इतनी कि रोतों को हँसा दे। शरारतों से बाज न आती। एक दिन रोटी सेकते हाथ फूंक लिया। दूसरे दिन काली नीली स्याही मुँह पर पोत दशानन बन गई, और एक बार तो सोती चारु की बाँह में सूई घुसेड़ इन्जैक्शन लगा दिया। चारु को पूरा सप्ताह पट्टी करवानी पड़ी।

चारु शेरी की शरारतों से तंग आ गई। उस दिन तनिमा की गुड़िया की आँख फोड़ उसे कानी बना आई। तनिमा ने रो-रो चारु के पास शिकायत की। चारु ने आव देखा न ताव, डंडे से शेरी की खूब पिटाई की। शेरी ने रो-रो कर सारा घर सिर पर उठा लिया —"मेरे डैडी नहीं हैं न, तभी तुम मुझे यों मारती हो। सुधा की मम्मी मारती है, तो उसके डैडी उसे प्यार करते हैं, उसे चाकलेट ला देते हैं।"

चारु का हाथ जहाँ का तहाँ रह गया—खेंच कर शेरी को छाती से लगा लिया—"तुझे किसने कह दिया शेरी, कि तेरे डैडी नहीं हैं ? तेरे डैडी हैं, शेरी ! बहुत अच्छे हैं वह।"

गालों पर आँसू की धारा चमक रही थी। नन्हे-नन्हे अधरों पर प्रसन्नता नृत्य कर उठी। विस्फारित नयनों से ताली पीट कर बोली

—"तो तुमने पहले ही क्यों नहीं बताया ! मम्मी हम डैडी के पास कब जायेंगे ?

'कभी नहीं।"

"पर क्यों ?" परियों की राजकुमारी उदास हो गई।

"क्योंकि वह तेरे डैडी तो हैं, शेरी ! पर मेरे कुछ नहीं।" भरा जख्म फिर हरा हो गया।

अब तो शेरी नित्य प्रति उस घाव को सालती रहती—"डैडी कैसे हैं ? खूब सुन्दर हैं न ? कहीं मूछें तो नहीं उनके ? न बाबा। मूछों वाले डैडी मुझ को बिल्कुल पसन्द नहीं। बाल झब्बेदार हैं न ? कहीं तुम्हारी तरह गुस्सैल तो नहीं ? डैडी आयेंगे, तो मैं तुम्हारे पास नहीं रहूँगी। तुम्हारी सब बातें उनसे कह दूंगी—हाँ !—देखना फिर।"

चारु शेरी को टोकती, बचपन ने कब किस का प्रतिबन्ध माना है। दर्दीले गीत की करुण पंक्तियों सी चारु बेचारी····?

एक दिन ट्रंक से एक हार निकाल शेरी ने पूछा,—"मम्मी, यह क्या है ?"

चारु स्कूल से थकी हारी लौटी ही थी। चाय की पहली घूंट ही भरी थी उसने। प्याला हाथ से छुट छनाक से टूट गया उसका मंगल-सूत्र ·······

तू इसे पहनती क्यों नहीं, मम्मी ? यह बिन्दी, यह माँग में भरने वाला—हाय मम्मी ! यह सब पहन कर तू कितनी अच्छी लगेगी—मुकेश की मम्मी से भी सुन्दर ! पहन के दिखा न, मम्मी।"

चारु को लगा, उसके मुँह में किसी ने एक साथ दर्जनों कुनीन की गोलियाँ रख दी हों —"शेरी, तू इतनी छोटी होकर भी इतनी बातें क्यों जानती है ? मैं इन सब को नहीं पहन सकती—तुझे कैसे समझाऊँ ? तू नहीं समझेगी।"

"अरे वाह ! समझूंगी कैसे नहीं । मैं तो शीला - नीलू-बिल्लू —सब की किताबें भी समझ लेती हूँ ।"

कोई और समय होता, तो चारु ने शेरी के इस भोलेपन पर खूब प्यार किया होता, पर इस समय उस की मनोदशा अव्यवस्थित सी थी । खीझ कर बोली—"जा शेरी, बाहर खेल ।"

शेरी के जाने के बाद चारु दुश्चिंता में पड़ गई—"क्या कर बैठी मैं? जरा से हठ से अपनी गृहस्थी में आप ही आग लगा ली । अब इस शेरी को कैसे समझाऊँ कि अनुग्रह इसका पिता तो है, पर मेरा पति नहीं ? यह शेरी किस की है ? कैसा व्यतिक्रम है यह ……!

इस के ठीक सप्ताह बाद ही एक विचित्र घटना हो गई । शेरी का जन्म दिन था-चारु मेहमानों को निपटाने में लगी थी । शेरी अपनी सहेलियों के साथ छत पर खेल रही थी……खेल · खेल में दो मंजिले से गिर पड़ी—सिर फ़ट गया ··धरती खून से लाल हो गई ।

चारू के हाथ के तोते उड़ गये ।

डॉक्टर दवा पर दवा, इन्जेक्शन पर इन्जैक्शन दे रहा था— पर शेरी की बेहोशी टूटने में नहीं आ रही थी ।

बेहोशी में "डैडी !" "डैडी !" की रट लगाये थी ।

डॉक्टर ने चारु को एक ओर बुला कर कहा - "अच्छा होगा, आप बच्ची के बाप को फौरन खबर कर दें ?"

"क्यों ? क्या·········?"

डॉक्टर की गर्दन झुक गई ।

"नहीं डाक्टर साहब ? नहीं, इस बच्ची को बचा लो ! मेरे जीवन का एकमात्र यही अवलम्ब है—आह ! इस के बिना मैं जी नहीं सकती ।"

"मैं प्रयत्न कर रहा हूँ ……आप जल्दी से जल्दी टैलीग्राम दे दें।" डाक्टर सिरंज भरने लगा।

किंकर्त्तव्य विमूढ़ सी हो गई वह। स्नायुमण्डल तन गया। भीषण मानसिक यन्त्रणा में पड़ी चारु की समझ में न आया कि वह क्या करे……बच्ची के बाप को बुला लूं? डाक्टर कहता है।…… टैलीग्राम दे दूं?……कैसे? मेरे कहने पर अनुग्रह क्यों आयेगा? स्वाभिमान जाग उठा—नहीं, मैं नहीं बुलाऊंगी!—जो प्रारब्ध में है वही होगा, उससे अधिक तो नहीं! डैडी नहीं आये क्या? मैं सुधा से कहूँगी देख, मेरे भी डैडी हैं।" पीडा से शेरी का मुख सिकुड़ गया —"डैडी! डैडी!! जल्दी आ जाओ"— और उसने आंखें बन्द कर लीं।

चारु भाग कर शेरी से चिपट गई 'शेरी! मेरी बच्ची! क्या हो गया तुझे? तू खेलती क्यों नहीं? अपनी मम्मी से रूठ क्यों रही है? मैंने तुझे पीटा था, मुझे माफ कर दे बेटी! मैं तेरे बिना नहीं रह सकती शेरी!…… …वह जोर से रोने लगी।

'तुम तो कहती थी, डैडी बड़े अच्छे हैं, फिर वह अपनी शेरी को देखने क्यों नहीं आये? …… क्या वह नहीं आयेंगे? पिछले महीने जैसे अमिट का मुन्ना मरा था, मैं भी मर जाऊँगी। वह भी तो छत से गिरा था। उसे कपड़े में लपेट कहाँ ले गये थे, भला? ……" एका-एक चीख़ मारी शेरी ने—"अमिट का मुन्ना मुझे बुला रहा है!"

ममता ने अन्तर को हिला दिया—पन्द्रह मिनट बाद ही चारु तार घर में खड़ी थी।

शेरी की दशा बिगड़ती ही जा रही थी भाग-दौड़ कर रही चारु बार बार आँखें पोंछ भगवान से शेरी के जीवन की भिक्षा माँगती।

सन्ध्या को फल-फ्रूट और दवाईयाँ लिये चारु उलझी सी चली आ रही थी—अब शेरी के बचने की भी आशा नहीं रही। अनुग्रह आ जाता तो शायद कोई आशा बन्ध जाती। शेरी के बाद मैं क्यों जिऊँगी ? किसके लिये जिऊँगी ? माँ-बाप ने तो इतने बरसों में एक बार भी खोज-खबर न ली ! मेरा जीवन प्रसून क्या शूलों से विंध पतझरी हवाओं में मुरझाने को ही था ?……"

इसी ऊहा पोह में किसी प्रकार घर पहुँची।

बाहर आँगन में अटैची रखा था‥एक चिर परिचित महक का अनुभव चारु को अपने नासिका रन्ध्रो में हुआ। हैं ! क्या …… ? स्पंदन बढ़ गया इस महक को वह इतने वर्ष बाद भी नहीं भूली …… अनुग्रह के कपड़े-लत्ते, कागज पत्रों में से महक आया करती थी। तो क्या अनुग्रह आ गया है ?….

"मेरा नाम शेरी है शेरी ! शेर होता है न—हौं‥हौं‥ डर गये ?….मैं शेरी हूँ डैडी ! देखो, तुम आ गये, तो अमिट का मुन्ना छिप गया है अब ठीक हो जाऊँगी मैं कड़वी दवा गटागट पी लूंगी।"

शेरी के इस प्रफुल्लित स्वर के उत्तर में एक दीर्घ चुम्बन की आवाज सुनी चारु ने।

"अब तुम मुझे छोड़ कर नहीं जाओगे डैडी ?"

"अपने राजे बेटे को कैसे छोडूंगा ? तुम ठीक होलो, फिर चलेंगे।

"फिर चलेंगे ! क्या शेरी को भी ले जाना चाहता है अनुग्रह?" चारु को लगा वह अचेत् हो जायेगी। अनुग्रह का कंठस्वर वैसा ही है। ज़रा गम्भीरता आ गई है बस !

तभी अनुग्रह को खाँसी उठी। उठ कर बाहर आ गया वह।

आँगन में दिवाल का सहारा लिये खड़ी चारु को देख वह प्रस्तर बन गया—'चारु !" अस्फुट सा स्वर था।

"अनुग्रह !"

और अगले ही क्षण चारु का सिर अनुग्रह के विशाल वक्ष पर था, और शरीर उसके बाहू बन्धन में।

"तुम को बरसों से ढूंढ़ रहा हूँ, चारु ! मैं तुम बिन नहीं रह सकता।"

"और मैं तुम बिन अधूरी हूँ अनुग्रह !"

एकाएक घुटनों में मुँह छिपा रो पड़ी वह—"पर तुम्हारी तो और शादी हो चुकी होगी…पत्नी होगी बच्चे होंगे…वह तलाक ?"

ठठ्ठा पड़ा वह—"तुमने क्या सचमुच ही इतना मूर्ख समझ लिया था मुझे कि एक भूल कर जीवन भर भूलें ही करता जाऊँगा ? मां के मरने के साथ ही वह खेल खतम हो गया। तलाक को मारो गोली ! जन्म-जन्मान्तरों का बन्धन क्या इतना कच्चा होता है ? तुम्हें खोकर तुम्हारा मूल्य समझ पाया।"

"सच।" अविश्वास से चारु ने पूछा।

"हूँ !" अनुग्रह के होठों पर मुस्कान थी। दोनों हँस पड़े।

असली और नकली

तुम कहती हो, मैं इतना निराश न होऊँ, दुःखी न रहूँ ! तुम मेरी बहुत आत्मीय हो, तुम ऐसा कहोगी ही। पर सुधा, एक बात कहो—जो सत्य है—यथार्थ है, उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में बुरा क्या है ? सामने के कटु यथार्थ को भूल कल्पना के सुनहले पलनों में झूलना भवितव्यता के भयंकर भय से पलायन ही है। छलना ही है। घने कांटों की झाड़ी में गुलाब समझ कर हाथ डालूं, तो यह प्रवंचना ही होगी। हा! दूसरे मुझ सा मूर्ख और कौन होगा ? विष को अमृत समझ कर पी भी जाऊँ, तो मैं कौन मीरा हूँ जो जी उठूंगी?"

इतना कहते कहते छवि का मुँह झुक गया ! हृदय में उमड़ घुमड़ सी हुई, पर आँखें सूखी की सूखी ।

सुधा उसकी सहेली थी–अभिन्न हृदया—बाल सहचरी। वह भी उसके दुःख में दुःखी हो उठी। छवि की मन-स्थिति देख सुधा उठ खड़ी हुई—'अब तुझे क्या कहूँ, छवि ! चलती हूँ फिर किसी दिन आऊंगी।' छवि के होठों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान खेल गई-बोली, कुछ नहीं।

उसी संध्या को पूजा से निवृत्त हो जब सुधा के पति राजन बाबू खाना खाने बैठे, तो बहुत वेदना भरे स्वर में सुधा ने कहा—'सुनो-एक उपकार करोगे ? छवि का कोई उपाय कर दो।'

राजन बाबू मूड़ में थे—'मैं तो अकेला आदमी हूं—तुम्हारा तो उपाय कर चुका हूं—सरकार ने बहु विवाह बन्द कर दिया है, अब विवश हूं। छवि का उपाय कैसे करूँ?

बहुत आवेग से खड़ी हो गई सुधा, भर्त्सना भरे स्वर में बोली, छी ! छी !! तुमको सदा ठठ्ठा ही सूझता है। यह बात क्या हंसी की थी भला।'

राजन बाबू ने दुनिया देखी सुनी थी, स्थिति की गम्भीरता समझ कर एकदम चुप हो गये । दो चार क्षण कुछ सोच कर बोले—'अब क्या हुआ ?'

पति से संवेदना पा उत्साहित होकर सुधा कहने लगी—'चाचा चाची भी दुःखी हैं। छवि तो मारे आत्मग्लानि के मरी जाती है। उसके ब्याह की उमर भी हो चली है । कोई पसन्द ही नहीं करता। कितने ही लोग देख-देख कर जा चुके। कोई कहता है, रूप नहीं। दूसरा कहता है, आकर्षण नहीं। तीसरा कहता है, स्मार्ट नहीं। चौथा कहता है, सांवला सा रंग है, सो ठीक है, चल भी जायगा, पर

दहेज भरपूर नहीं। तुम ही कहो, ये बातें क्या थोड़ी हैं छवि के लिए। फिर छवि के साथ ही सब लड़कियों का विवाह हो गया—बच्चे हो गये। वही एक ऐसी है। कुछ तो आप जलती है। दूसरे चाचा चाची को दुःखी देखकर समझती है कि वह माँ बाप के लिये अपार विपदा का कारण है।"

बड़े दार्शनिक की तरह ठुड्डी पर उंगली रख राजन ने, हूँ किया। जैसे दिल में मजाक की सोच रहे थे—'अच्छा तो लोग अब इतना इतना कुछ देखकर शादी ब्याह करने लगे हैं। यार लोग तो बुद्धू ही थे, बिन देखे-बिन परखे—एक कपड़ों की गठड़ी उठा लाये थे वैसे यह अपनी तकदीर थी कि गठड़ी में से लाल निकल आया।'

होठों पर मोहनी मुस्कान लाकर—चितवन से कटाक्ष भर सुधा ने पति के गले में बाहें डाल दीं—'तुम वायदा करो कि कुछ न कुछ जरूर करोगे।'

'अरे, अरे, बस करो भई ! तुम तो शुरू दिन से जानती हो, ये कामदेव के बाण मैं सह नहीं सकता। अच्छा, आज्ञा करो, गुलाम को क्या करना होगा ?'

'अनुराग मित्र से बात करो।'

राजन बाबू यों चौंक गये—जैसे पाँव तले साँप आ गया हो। सुधा से छिपा न रहा—बोली—'चौंक क्यों गये ! अनुराग भी तो हाड माँस का बना पुरुष है—।'

राजन ने बात काटते कहा—'कैप्टेन' !

'चलो कैप्टेन ही सही। कैप्टेन क्या आदमी नहीं होते ? फिर छवि में क्या कमी है ? कोई पारखी ही नहीं बस।'

अनुराग बहुत बड़े घर का लड़का था। उसकी रुचि की कोई लड़की ही नहीं मिलती थी—अपनी तलाश में थक, शादी न करने का

फैसला कर चुका था। पर राजन के सामने उसकी एक न चली, और झक मारकर उसे छवि को देखने को तैयार हो ही जाना पड़ा।....

तिथि निश्चित हो गई।

सबसे ज्यादा उमंग थी सुधा को। अपने हाथ से उसने छवि के सोलह शृंगार किए, कीमती साड़ी पहनाई—वेणी में फूल गून्थे—काज़ल बिंदी, लिपस्टिक सब लगाया, फिर छवि को देख—उत्साह से भर कर बोली—'हे प्रभु! आज तुम कितनी सुन्दर लग रही हो। इस रूप को कौन ठुकरा सकेगा?' छवि उसी तरह बुझी-बुझी थी—न उसमें आशा थी—न उत्साह।

यथा समय अनुराग आ गया। छवि चाय लेकर गई। गौर वर्ण का अनुराग खद्दर के कुर्त्ते पायजामे में था—पास रखी सितार के तारों से खेल रहा था। छवि उसे देखते ही जड़ हो गई। हृत्तन्त्री झनझना उठी....यह ..यह ..! इन्हें वह जानती है—कैसे? कब से! पता नहीं!... पहले देखा भी नहीं कभी, पर लगता है इनके अणु-अणु से उसका परिचय है। इन्हें पाकर और कुछ नहीं चाहिये....और कुछ नहीं चाहिये! ट्र रखने की आवाज सुनकर अनुराग ने मुँह उठाया—छवि को एक पल को देखा—फिर खिड़की से बाहर झाँकने लगा।

हृदय में ज्वार भाटा छिपाए छवि अपने कमरे में आ पलंग पर औंधी लेट गई। मन ही मन अनुराग से विनती करने लगी—'शादी ब्याह तो बराबरी का दावा होता है—मैं आपके बराबर होने की कल्पना भी नहीं कर सकती। कितनी अकिंचन हूँ मैं। मेरा उद्धार कर दो, देवता!—चरणों में थोड़ा सा स्थान दे दो। लोग घर में दासी भी तो रख लेते हैं—मैं भी आपकी दासी ही सही—दो जून खा कर जीवन भर सेवा करूंगी।'

परन्तु संसार में सब कुछ अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं होता।

अगले दिन अनुराग राजन के यहां गया, तो सुधा ने पूछा—पसन्द है न ?'

एक बार तो अनुराग अचकचा गया—फिर साहस कर बोला--"भाभी, वह शादी करने के लायक नहीं । किसी दुकान के शो—केस में रखवा दो।"

सुधा का मुख तमतमा उठा—'पुरुष जाति के अह्‌म की सीमा ही नहीं कोई। अपनी अभिलाषाओं को पुरुष ने अपरिमित बना रखा है। मनमाने सिद्धांत बना रखे हैं, असम्भावित आदर्शों की मूर्तिया घड़ रखी हैं। इन सब को वह समवेत रूप में एक ही नारी में देखना चाहता है। कैसी हास्यास्पद बात है। यह भी सोचा है पुरुष ने कि नारी भी हाड चाम की बनी है, उन के भी हृदय है—वह हृदय भी पुरुष के हृदय के समान ही स्पन्दित होता है। उसकी भी इच्छाएं—आकांक्षाएं—अभिलाषाएं होती हैं। पुरुष अपनी शक्ति के मद में किसी और का अस्तित्व ही स्वीकार करने को तैयार नहीं।'

अनुराग को इतनी आशा नहीं थी। कड़वे घूंट की तरह वह सब निगल गया।

छवि पर इसका क्या प्रभाव होगा—इसे कोई भी संवेदनशील प्राणी सहज ही में समझ सकता है। सुधा ने उसे समझाने का यत्न किया, तो वह बोली—'बस, सुधा, अब मत बहलाओ। गल्ती मेरी ही थी-बौनी होकर चांद को पाने चली थी। अब अपने भाग्य को समझ गई हूं। जो प्रारब्ध में नहीं, उसे पाने की कामना करना मृगमरीचिका भर है। अब शादी-ब्याह की बात मेरे आगे मत चला-मुझे नहीं करनी शादी ! शादी तो रूप का व्यापार है । मैं आत्मनिर्भर बनूंगी—मैं नौकरी करूंगी !"

सुधा ने फिर कुछ कहना चाहा, पर छवि की दृढ़ता के सम्मुख झुक गई।

और छवि ने दूसरे शहर में—एक मामूली से स्कूल में नौकरी कर ली ...

...

पांच वर्ष बीत चुके थे । अब छवि पहले की छवि नहीं थी ! अपने पुरुषार्थ और अध्यवसाय से उसने एम. ए. पास कर लिया था—और अच्छे कालिज में प्रोफैसर लग गई थी ! हीनता की, निराशा की भावना अब प्रायः निकल गई थी—उसके हृदय से। मुख पर दृढ़ निश्चय की छाप थी—जो आत्मनिर्भर बालाओं के मुख पर प्रायः देखने को मिलती है। अपने को काम में इस प्रकार उलझा रखा था छवि ने कि कुछ भी सोचने का अवकाश तक न था उसे ! पर.... इस सारी शून्यता को भेद कर अनुराग की स्मृति विद्युत् सी कौंध जाती थी....जाने क्यों, भूल ही नहीं पाती थी वह उसे !

उस दिन छुट्टी का दिन था। छवि को कोई काम-धाम था नहीं। सारा दिन इधर उधर की बातों में बिताया। सन्ध्या को कुछ अधिक ही अन्यमनस्क सी हो उठी, तो पिक्चर देखने चल दी। वह भी बोगस ही निकली—सो बीच में ही छोड़कर वापिस आ गई। बहुत ही उदास थी छवि....जाने क्यों जी भर भर कर आ रहा था ? सोने का यत्न किया, तो नींद भी न आई—दम सा घुटने लगा—उठ कर छत पर आ गई। एक साथ कितनी ही स्मृतियों ने आकर घेर लिया उसे। जीवन की शून्यता अपने विकराल रूप में मुंह बायें समक्ष आ खड़ी हुई तब। एक उसांस भर कर छवि ने सोचा—भूल-भूलय्या में पड़ गई वह। शायद यह तो वह मंजिल नहीं, जिसकी कामना उस ने की थी। गलत राह पकड़ ली उस ने। इस राह में मान भी है, यश भी, पर हृदय का सरस स्रोत कब कैसे सूख गया ?

आधी से भी अधिक रात तक वह विचारों में तल्लीन रही।

सुबह चार बजे के लगभग ही सोई होगी कि किवाड़ पर थपथपाहट सुन हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई। किवाड़ खोला....

एक चीख निकलते-निकलते रह गई छवि के मुंह से। यह स्वप्न है या सत्य ? सत्य तो शायद हो नहीं सकता। आह ? कई बार स्वप्न भी कितने सुखद होते हैं। दो मिनट वह ज्यों की त्यों खड़ी रही। आगन्तुक दुविधा में पड़ गया—हिचकिचा कर बोला—'पर मकान नम्बर तो यही है। यही पता लिखा था जया ने।' जरा रुक कर पूछा—'क्या जया घोष यहीं रहती हैं।'

चौंक गई छवि....तो स्वप्न नहीं यह सब ?

'जी मैंने पूछा जया घोष यहीं रहती हैं क्या ?'

अपने को आश्वस्त कर छवि बोली 'जी....जी हां।'

हाथ में भारी सी अटैची उठा कर अनुराग मित्र भीतर आ गया। आंगन में पड़ी खाट पर आराम से लेट गया।

छवि ने स्टोव जला कर चाय बनाई। चाय का कप ले जब अनुराग के पास चली, तो पांच वर्ष पूर्व का दृश्य फिर सम्मुख साकार हो गया। हृदय आंदोलित हो रहा था—कई बार गिरते गिरते बची।

अनुराग आंखें बन्द किये लेटा था—निर्मेष दृष्टि से छवि उसे देखती रही—स्वयं को संयत कर बोली—'चाय।'

अनुराग ने पलकें खोल सामने देखा, तो देखता ही रह गया। सफेद धोती में अस्त व्यस्त सी छवि खड़ी थी—पलकें असलाई सी थी—रात भर के जागरण के कारण सांवले रंग में कुछ लालिमा सी झांक रही थी। खुले बाल जांघों तक लटक रहे थे।

'चाय लीजिये।'

चाय का कप पकड़ लिया उस ने, पूछा—'जया दिखती नहीं। आप कौन हैं ?'

अनुराग ने छवि को पहचाना नहीं था—पहचानता भी कैसे ? चमकीले परिधान और आभरणों ने छवि रहने ही कहां दिया था पांच वर्ष पूर्व।

'जया यहां नहीं है। दो दिन के लिए देहली गई है। हम इकट्ठे काम करते हैं। आप ?'

चाय का घूंट पीते-पीते अनुराग बोला--'इतनी स्वादिष्ट चाय पहले कभी नहीं पी मैंने। नहीं, नहीं, झूठ नहीं, सच कह रहा हूं। बहुत ही कम लोग ऐसी चाय बना पाते हैं। हां ..जया मेरी मौसी की बेटी है-कब से ज़िद्द कर रही थी कि मैं उस के यहां आऊं हफ्ते के लिए। देखिए अब-आप देहली चल दी—उस का बचपना नहीं गया अभी !'

छवि ने सोचा-'ओह ! तो यह हैं जया के कजिन, जिनकी दिन रात रट लगाती थी। छवि ने कभी ध्यान से उसकी बात सुनी ही न थी—किसी के कजिन की बातों में वह दिलचस्पी ले, यह उमर कहां है अब उसकी ?

'दो दिन बाद जया आ जायेगी। आप को कोई कष्ट न होगा उस की अनुपस्थिति में।'

'पर आपको तो होगा।'

छवि ने उत्तर न दिया-खाली कप ले कर चल दी। रात के बर्तन पड़े थे—उन्हें मांजने लगी। अनुराग ने कहा--'आप बर्तन मल रही हैं ? नौकर नहीं है क्या ?'

'जी नहीं ! मैं अपना काम आप कर सकती हूं।'

कालिज का समय हो रहा था। नमकीन चावल और रायता बनाकर उसने अनुराग से कहा—'क्षमा कीजिये, देर हो रही है—अब तो चावल ही खाने होंगे। जल्दी ही आ जाऊंगी, तब खाना मिलेगा। आप भी सोचते होंगे, क्या खूब फंसा हूं।'

'नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।'

× × ×

संसार में कई वस्तुएं इतनी असाधारण होती हैं कि अनायास ही ध्यान खेंच लेती हैं।—पर कई इतनी साधारण होती हैं कि उनकी अतिशय साधारणता भी मन को आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। छवि की साधारणता भी स्पृहणीय है! सौंदर्य केवल असाधारण वस्तुओं में ही नहीं होता—अपितु साधारणता का अपना मूल्य, अपना सौन्दर्य होता है।

अपने को बंधा सा पा रहा था अनुराग।

संध्या को जब छवि खाना बनाने लगी, तो अनुराग भी रसोई में ही पटरे पर आ कर बैठ गया। इधर उधर की बातें करते बोला—'आप अकेली हैं। शादी-ब्याह नहीं किया?'

'जो देख रहे हैं ठीक है।'

'पर जीवन की इतनी बीहड़ राहें अकेले ही कैसे कटेंगी?'

आक्रोष में भर कर छवि बोली—'जीवन में हर कदम पर पुरुष के सहारे की—उसके सम्बल की आवश्यकता पड़े—या अकेली चल ही न सकती होऊं—ऐसी दुर्बल या अबला मैं नहीं हूं।'

नेत्रों में जाने कैसा भाव भर कर अनुराग उसे देखता रहा। गर्मी में चूल्हे के निकट अधिक देर तक बैठने के कारण माथे पर से गालों पर पसीना बह रहा था। रोटी सेंकते सेंकते अनायास ही हाथ गाल पर

लग गया होगा— वहां बड़ा सा कालिख का निशान लग गया था। बहुत ही कसकर बालों को पीछे जैसे तैसे लपेट रखा था। बहुत सीधी सादी घरेलू सी लड़की लग रही थी छवि, जो वास्तव में छवि थी, एक पुनीत रूप की छवि !

दो से अधिक रोटियां नहीं खा पाया अनुराग छवि के बहुत ही आग्रह करने के बाद भी।

दो दिन के बाद भी जया नहीं आई, आया उसका पत्र जिसमें उसने लिखा था कि चार पांच दिन और नहीं आ सकेगी। छवि को बड़ी असुविधा हुई, कैसे कहे अनुराग को जाने के लिए ? रहने के लिये अधिक नहीं कह सकेगी वह। पांच वर्ष पूर्व जिस दम्भी ने उसका अपमान किया था-ऐसा आघात पहुँचाया था, जिसकी पीर कम नहीं होती—उससे बार-बार अनुनय विनय नहीं होगी छवि से !

किन्तु छवि को कुछ करना नहीं पड़ा। समस्या स्वयं ही हल हो गई। तीसरे चौथे दिन ही अनुराग को जोर से बुखार हो गया—सो ऐसी हृदयहीन तो छवि थी नहीं, जो इस हालत में उसको निकाल बाहर करती।

इतने तेज ज्वर में अतिथि को घर पर अकेले छोड़ना भी अनुचित था, सो कालिज से छुट्टी ले सेवा टहल करती रही।

बुखार उतर गया था। अनुराग सो रहा था। अचानक ही जाग उठा—बहुत ही वेदना स्वर में कोई बांसुरी बजा रहा था। मन का तार तार झनझना उठा। तन्मय होकर सुनता रहा वह।

बांसुरी का स्वर बन्द हो उठा था, पर अपनी तल्लीनता में डूबा अनुराग आंगन में आ गया। छवि के कमरे की बत्ती जल रही थी। उधर ही चल दिया वह....छवि ही बांसुरी बजा रही थी—अब

बांसुरी को गाल से सटाये भाव विभोर बैठी थी। गालों पर दो आंसू झलक रहे थे।

डूब गया अनुराग। उसे लगा युग युग की बिरहिनी राधा कन्हाई के विछोह में जलहीन मीन सी व्याकुल है। स्वर्गीय दृश्य था—अनुराग कह उठा—'कितनी सुन्दर हो तुम !'

आश्चर्य, लज्जा, प्रेम से कह उठी छवि 'क्या ?'

'सौंदर्य की प्रशंसा पाप तो नहीं, छवि ?'

अनुराग के छवि कहने पर छवि आल्हादित हो उठी—बोली—'रूप परखने की बुद्धि हो तब। और मुझ में तो रूप ही नहीं !'

अनुराग चुपचाप समीप ही बैठ गया—कुछ देर शून्य में देखता रहा, तब कहने लगा—'शायद तुम्हारा कहना ही ठीक हो। रूप स्वयं में कोई ठोस वस्तु नहीं—देखने वाले की दृष्टी का भेद है। कोई चीज़ तुम्हें पसन्द है, तुम्हें बहुत अच्छी लगती है वही तुम्हारे लिए सुन्दर-रूपवान भी है। दूसरे के लिए वह अरुचिकर है—तो उसके लिए वह असुन्दर है। फिर हीरे की पहचान तो जौहरी ही कर सकता है।' अन्तिम वाक्य पर हंस पड़ा वह।

छवि ने कहना चाहा--जौहरी भी धोखा खा जाता है, अनुराग बाबू। याद है, पांच वर्ष पूर्व क्या कहा था ?' पर कह न सकी, संकुचित होकर रह गई।

नारी पहली ही दृष्टि में पुरुष को तोल लेती है पहचान लेती है। पर पुरुष में, नारी सी परखने की शक्ति नहीं—पुरुष पहचानता तो है पर देर बाद।

आप आराम कीजिये अनुराग बाबू। अभी बुखार ठीक से उतरा नहीं है।' छवि ने बात बदल दी।

अनुराग आकर चुपचाप चारपाई पर लेट गया । उसे लग रहा था, आज वह चिर इच्छित मंजिल को पा गया है ।

संसार के बाजार में नकली चीजें ही अपनी चमक दमक के कारण अधिक बिकती हैं—असली को तो कोई पहचान ही नहीं पाता है । नकली को देखते-देखते लोग असली को पहचानना ही भूल जाते हैं ।

अनुराग को खुशी हो रही थी कि उसने असली को ही पहचान लिया है—पा लिया है ।

अगले दिन छवि कालिज जाने के लिए तैयार हो गई–अनुराग अभी तक सो रहा था । उसे जगाकर छवि ने कहा—'दूध थर्मस में रखा है, जब इच्छा हो पी लें । मैं कालिज हो आऊं । जल्दी ही आ जाऊंगी ।'

'कालिज जाना क्या बहुत जरूरी है, छवि ?'

'जी……… …. .. ।'

मैंने कहा, मेरी तनख़्वाह बारह सौ रुपए महीना है, उस में दाल रोटी तो खाई जा सकती है । फिर तुम्हारा जाना क्या बहुत ही जरूरी है ?'

छवि के शरीर का सारा रक्त उसके कपोलों में आ गया । गर्दन उठाई, तो अनुराग की दृष्टि से दृष्टि मिल गई। कोई उपाय न सूझा, तो हथेलियों में मुंह छुपा कर भीतर भाग गई ।

अनुराग हंसकर अखबार पढ़ने लगा ।

एक नारी एक देवी

गाड़ी आगे बढ़ी जा रही थी। मैं खिड़की में से मुँह निकाले बैठी थी। कई स्टेशन आ चुके थे। मेरा मन उलझनों में उलझा हुआ था, कभी अपने किये पर पश्चात्ताप होता, और कभी लगता, जो किया है ठीक ही किया है। परन्तु मन सुलझा नहीं पा रहा था सोचते सोचते सिर में पीड़ा होने लगी, थककर खिड़की के सहारे सिर टिका लिया।

'घर से इस प्रकार आना क्या ठीक हुआ ?' मस्तिष्क में हर बार प्रश्नवाचक चिन्ह बनकर रह जाता।

'थोड़ा स्थान दोगी, बेटी ?' ये शब्द सुनकर मैंने आंखें खोलीं, सिर जरा ऊंचा उठा कर देखा, तो एक वृद्धा खड़ी थी। वृद्धा के स्थान पर प्रौढ़ा कहना ही उपयुक्त होगा। आँखों में स्निग्धता थी, मुखमण्डल सौम्य था। मैंने पाँव समेट लिये और वह कपड़े सम्हाल कर बैठ गई। मुखमण्डल से किसी सम्भ्रान्त परिवार की दीख रही थी।

एकाएक मुझ से पूछा : 'कहाँ जाओगी, बेटी ?'

मैं सकपका कर रह गई, कुछ भी उत्तर न सूझा। घर से स्टेशन आई, जो गाड़ी खड़ी थी उसी में बैठ गई। दो चार दिन बारात आने में थे। विपन्नता के कारण, माँ–बाप बड़ी उमर के आदमी से ब्याह कर रहे थे। मनमें ब्याह के क्या क्या स्वप्न सजाये, स्वप्न का यथार्थ, यह विकृतरूप देख मन टूट सा गया। सो सहसा घर से आ गई थी, मन इसीलिए असन्तुलित था।

शायद कोई उत्तर न देने के कारण वह प्रौढ़ा कुछ भांप गई और बोली, 'शादी भी नहीं हुई दिखती, बेटी ?'

न जाने क्या था उस प्रौढ़ा की बातों में, आँखों में। मैं झूठ न बोल पाई। उसकी आत्मीयता देख मैंने सब कुछ कह दिया। एक शब्द भी तो छिपा नहीं पाई।

मेरी कहानी सुन वह एकदम मौन हो गई। धीरे-धीरे उसकी आकृति कठोर हो उठी।

तभी झटके से गाड़ी रुक गई। कोई छोटा मोटा स्टेशन था। वह प्रौढ़ा खड़ी हो गई, और मेरी ओर मुड़कर कहा : 'उठो।'

न जाने किस अज्ञात आकर्षण के वशीभूत मैं पीछे-पीछे नीचे उतर गई।

कुछ जलपान के पश्चात् पास बेंच पर बैठकर उस ने अपनी कहानी यों सुनाई :—

'फुलवारी के गुलाब की अपेक्षा जंगली फूल बड़ी जल्दी बढ़ जाता है। रमा (यही उस का नाम था) भी हर रात में जैसी अंगुल बड़ी हो जाती थी। माता-पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, सो बीस वर्ष की हो जाने पर भी कोई अच्छा घर-बार उसके लिए ठोक नहीं कर पाये। माँ बाप को यों घुलते देख रमा कौन सुखी थी।

'अन्त में बाप ने नाता पक्का कर दिया। रमा ने सुना, तो दिल पर जैसे किसी ने बड़ी शिला रख दी हो। सारी कामनायें सुपने सी मन में ही रह गयीं। बीस वर्ष की कोमल कली को चालीस वर्षीय बूढ़ा मिला और साथ अपनी हमउमर लड़की।

'विदा के समय छाती से चिपका कर माँ ने कहा, 'बेटी, उस बिन माँ की लड़की को अपनी ही लड़की मानना, तू उसकी माँ हो कर जा रही है।'

'पिता के झुर्रीदार मुंह को आंसू भिगो रहे थे। 'बेटी!' इस से अधिक वह कुछ बोल न सके।'

'रमा उनकी पीड़ा समझ गई। रमा ससुराल आ गई। रूपा को बिना किसी भेदभाव के बेटी कह कर अपना लिया। रूपा के मन का समस्त क्रोध मिट गया, जो उसे अपने पिता पर था।

'रमा ने अपने जीवन को अचल साधना बना लिया। जीवन की समस्त आशाओं—अभिलाषाओं को कर्त्तव्य हित आहुति दे डाला।

पहली रात की पति की बात याद आकर उस के मन में हूक सी उठती, कसक सी होती।

'रूपा का ध्यान रखना।' यही सुहाग रात की बात थी। उत्तर में रमा ने सिर झुका दिया था।

पति वृद्ध सही, पर उस से भी प्रेम की अपेक्षा तो हर पत्नी करती है। परन्तु रमा के पति…दो तीन माह उसके ब्याह को हो गये, उन्होंने कभी विशेष बात नहीं की।

"नैहर आई, तो माँ ने मुरझाया हुआ मुख देख कर पूछा, "क्यों री रमा, क्या तू खुश नहीं है वहाँ ?"

सूनी-सूनी थकी-थकी सी आँखों में कृत्रिम चमक ला, तनिक हंस कर रमा बोली, 'बड़े मजे में हूं माँ, खूब बड़ा मकान है, नौकर चाकर हैं, काम-धाम कुछ नहीं, तभी तो खा-खा कर मोटी हो गई हूँ !"

'माँ ने सब समझ कर, मुँह फेर कर आँखों में आये आँसू पोंछ डाले। तथ्य रमा भी जानती थी, और उसकी माँ भी जानती थी कि रमा कितनी खुश थी।

"जब तक रमा रही, पिता छिपे-छिपे फिरते ! रमा का उतरा मुखमण्डल देख कर उनकी अन्तरात्मा उन्हें कचोटती रहती थी। वह अपने को अपराधी मानते ! रमा सब देख-समझ कर चुप रही।

"मातृत्व वहन करने की प्रसन्नता नारी को कम नहीं होती ! सो दुःख में भी रमा प्रसन्न हो उठी।

'एक दिन ज़रा सकुचा कर, लजा कर रमा ने जब पति को बताया कि वह माँ बनने वाली है !

"उस समय वह दुकान पर जाने की जल्दी में थे। बिना किसी उल्लास के उन्होंने कहा, "अच्छा।", जैसे कर्त्तव्य पूरा हो गया ! फिर घड़ी की ओर देख कर शीघ्रता से बोले, "जल्दी से मेरा खाना ले आओ !"

"रमा कुंठित हो गई ! मन की खुशी एक दम धुंधली पड़ गई। भारी कदमों से वह चली गई। नौकर के हाथ खाना भिजवा

आप घुटनों में मुँह दे कर बैठ गई। तभी पति की आवाज़ आई–'आज साग स्वाद बना है, एक कटोरी और भेज दो !" रमा का जी चाहा, साग की सारी पतीली उठाकर आंगन में पटक दे। बुझे मन से कटोरी साग भेज दिया।

× × × ×

'रमा को रूपा इधर कुछ दिनों से बदली हुई नजर आती थी ! बात बात में हंस पड़ती ! खुश सी दीखती, रमा से चिपट जाती एकाएक ! रमा को कुछ आशंका सी हुई ! दो एक दिन में इस आशंका की पुष्टि भी हो गई।

"एक रात रमा की नींद खुल गई ! रूपा के कमरे में कुछ आहट सी लगी : वह दबे पाँव रूपा के कमरे में गई। अंधेरे में अस्पष्ट सा दीखा, रूपा खिड़की से (जो सड़क पर खुलती थी) किसी से बातें कर रही थी ! रमा ने जाकर बत्ती जला दी। बत्ती के जलते ही रूपा के मुख़ पर मुर्दनी छा गई। उसके पाँव काँपने लगे। खिड़की से रमा ने एक धुंधली आकृति को भागते देखा। रमा सब समझ गई, उसका मुख विवर्ण हो गया, कठोर स्वर में बोली, यह मार्ग आसान नहीं, रूपा। अपने पिता के सम्मान का क्या कुछ भी ध्यान नहीं तुम्हें ?"

"रूपा निरुत्तर थी, उसकी आँखें झुक गई ! उसने आखें उठाई, तो रमा जा चुकी थी।

'रमा चाहती, तो पति से सब कह सकती थी ! परन्तु और कुछ कहे बिना पति से केवल इतना ही कहा, रूपा की आयु विवाह योग्य हो गई है, जवान लड़की को कब तक घर में बिठाये रखोगे ? लोगों की ज़बान तो पकड़ी नहीं जाती।"

'पति का ध्यान जैसे अब तक इस ओर था ही नहीं। परिस्थिति की विषमता उन की भी समझ में आ गई।

× × × ×

रूपा के ब्याह में केवल महीना शेष रह गया था। वह भीतर-भीतर ही घुली जा रही थी ! रंग पीला पड़ गया था, आँखें धंस गई थी ! रमा सब समझकर भी चुप थी !

'शादी में बीस दिन शेष थे ! रमा सारा दिन काम में व्यस्त रहती ! उस दिन भी नौकरों से दाल धूप में डलवा रही थी। तभी आ गई रूपा। रमा को भीतर ले आई। फिर उस के पांवों में सिर रख कर रोने लगी। रोती-रोती बोली, माँ, पिता जी मुझे मार डालेंगे ! मुझे बचाओ, माँ जी !" फिर सिसकियाँ भरती हुई बोली— "माँ, वह सत्येन्द्र कहता है कि मेरे पत्र शादी पर दिखायेगा—वह मुझे बरबाद कर देगा, माँ ! वह कहता है कि मैं उस के साथ भाग जाऊं नहीं तो मेरी शादी नहीं होने देगा ! माँ, मुझे बचाओ, अगर पिता जी तो पता चल गया, तो ज़िन्दा न छोड़ेंगे ! हाय, माँ........।"

'कई एक क्षण तक रमा आवाक् बैठी रही ! मन में कुछ निश्चय किया, मां के कहे शब्द याद आ गये ! 'रूपा की माँ होती, तब वह क्या करती ?' एक आभा से मुख पर दीप्ति सी छा गई !

'उसने रूपा के आँसू पोंछ दिए, बोली, 'चिन्ता न कर, बेटी ! सब ठीक हो जायेगा।'

और सचमुच सब ठीक हो गया, रमा वे पत्र वापस ले लेने में सफल हो गई ! परन्तु उस के लिए उसे पति की तिजौरी से चुप-चाप हजार रुपए निकालने पड़े और अपना हीरों का हार बेच डालना पड़ा। परन्तु रूपा का ब्याह निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। विदा के समय रूपा

रमा के गले लग कर बहुत रोई, कहा, "माँ, तुम ने मुझे बचा लिया, तुम्हारे उपकार का बदला जान देकर भी मैं चुका नहीं पाऊँगी, तुम देवी हो, माँ" और रमा को जैसे इतने से ही सारी मेहनत का फल मिल गया। आखें भर आईं। बोली, "मैं तेरी माँ हूं रूपा ! मेरा उपकार कैसा ?

'रूपा की रूलाई थमती ही न थी।

× × × ×

'रमा ने रूपा के पत्रों का बण्डल अलमारी में रख दिया और कामों में ऐसा उलझी कि उन्हें आग की भेंट करना भूल गई।

'माँ की सख्त बीमारी का तार आ गया। रमा मायके चली गई ! महीने भर में माँ अच्छी हो गई।

'माँ ने पूछा 'महीने में तेरे ससुराल से एक भी पाती नहीं आई, रमा, क्या जमाई से लड़ कर आई हो ?'

माह भर से रमा का ध्यान इस ओर गया ही नहीं था। उस के मन में भी कुछ आशंका सी हुई, बोली, 'अरे माँ, मेरा ध्यान इस ओर था ही नहीं, भगवान करें वह ठीक हों !"

'माँ तो शुरू दिन की अनिष्ट भीरू थी, अगले दिन ही रमा को उसकी ससुराल भेज दिया।

'रमा घर आई, तो पति को बहुत बदला हुआ पाया। उन्होंने रमा से बात तक न की। रमा को कुछ भी समझ में न आया। कई बार बुलाने का प्रयास किया, परन्तु निष्फल।

एक दिन दोपहर बीते पति रमा के कमरे में आये, उन के हाथ में वही पत्रों का बण्डल था, रमा काँप उठी ! पति देव आकर कुर्सी पर बैठ गये। धीरे-धीरे बोलना आरम्भ किया, 'तुम्हारा बाप मेरे

पास आकर रोया, गिड़गिड़ाया, तभी मैं शादी के लिए तैयार हो गया था। मुझे नहीं पता था कि स्वच्छ स्थान पर आ जाने पर भी नाली के कीड़े में नाली की चाह रह जाती है।" इसके बाद पत्रों का वह बण्डल रमा के मुँह पर खींच कर दे मारा। यह पत्र किसे लिखे हैं तुमने ? मेरा मान-मर्यादा खाक में मिला देने पर तुली हो, अब इस घर के द्वार तुम्हारे लिए सदा के लिए बन्द हैं ! हे भगवान, क्या पता था, यह नागिन मुझे यों डसेगी ! और जाने बस क्या बड़बड़ाते रहे। रमा प्रस्तर-प्रतिमा की तरह बैठी रही ! प्रतिवाद में मुँह से एक शब्द तक नहीं निकला। उस क्षण उस ने जाना, जग में भलाई का बदला क्या होता है ! उसकी आत्मा ने यह स्वीकार न किया कि वह यह कहे, कि ये पत्र रूपा के हैं ! रमा जानती थी, पति को विश्वास नहीं आयेगा, प्रत्येक पत्र के नीचे केवल 'र' लिखा था। 'र' से रूपा भी है और रमा भी।'

प्रौढ़ा की इतनी कहानी सुन मैं ने पूछा, 'फिर क्या हुआ ?' तनिक रुक कर उसने कहा—प्रतिदिन की भावना का जन्म नारी का अन्त है बेटी, नारी-जीवन ही उत्सर्ग का नाम है। पति से मैं ने नहीं कहा कि वे पत्र रूपा के थे। अपराध मान लेने पर वह मुझे घर रखने को तैयार नहीं थे। मैंने रोका, आँसुओं से उनके पांव धोकर कहा, 'तुम मेरे भगवान हो, तुम्हें छोड़कर जग में मेरा ठिकाना नहीं। मेरा अपराध क्षमा करदो, जीवन के शेष दिन इन पांवों में बिता लेने दो।' इस पर वह बोले नहीं, कमरे से चले गये, और बेटी, तब से आज तक वह मेरे साथ बोले नहीं।'

'ओह रमा चाची !' चाची का सम्बोधन मेरे मुँह से अपने आप ही निकल गया था।

यह सारी कहानी सुनकर मेरा सिर घूमने लगा। अपनी ग़लती का पश्चात्ताप हुआ। माँ की गीली आँखें, नन्हे बहन-भाईयों का

उदास मुँह आँखों के आगे आ गया। सोचा, एक यह भी स्त्री है, जिसने जीवन में केवल देना ही जाना है, एक मैं हूँ जो अपनी कामनाओं के कारण घर से आ गई।

'तुम घर वापिस चली जाओ, बेटी, घर से आये तुम्हें अभी चार-पाँच घण्टे हुए हैं, दो-अढ़ाई घण्टों में वापिस पहुँच जाओगी, कह देना—किसी सहेली के यहाँ चली गई थी, रमा चाची ने कहा।

मेरा सिर झुक गया। उन्होंने टिकट लेकर मुझे गाड़ी में बिठा दिया।

SPS
891.433 S 15 N
27959

कहानी संग्रह

सपने छलते हैं !

कहानीकार—प्रोफेसर (कुमारी) सन्तोष कौशल एम० ए०

The 'TRIBUNE' dated 26-6-1966

"The above is a collection of 10 Hindi short stories by Miss Santosh Kaushala, M.A., written from 1960 to 1965.

"The subject matter of almost all the stories is psychological conflict in the minds of women. The author deals with many of their intricate problems and suggests remedies. While love knows no bounds of caste or creed, and race and religion and is a connection between soul and soul, the soul cannot exist without a body and as such, the question of possession remains there.

" Again, the problem of social security is still there for the womenfolk and an unprotected or unmarried girl is like a flower growing on the roadside whom every passerby would be tempted to bruise.

" The interior of every woman is alike. Let she become engineer, doctor or ambassador, her real happiness lies in allocating her love as, as wife, as mother, as sister and as daughter, etc.

" Woman is most tender as a mother. Her heart beats in the same manner for her unfilial child as for the filial one. She may feel victim of jealousy as a beloved; she may fight for her rights as a wife: but as a mother she will sacrifice her all.

" With all this, man has, all along, thought her to be a means of sesual and saxual satisfaction. He has never peeped in her heart and soul.

" The author is also aware of the weakness of a woman who wants her husband to be husband first and husband last. If the glory, wealth and high office of her husband stand as a gulf between him and her, she gets perturbed and loses peace of mind.

" The author has dwelt also on the weakness of women who do not marry till the age of 30, turn cynical and lose the charm of life. Even sublime ideals for which they put off marriage, seem shallow after the marital age is over. Suppressed desires can take a woman to a dangerous path of bad company, smoking, drinking and other evils. It is marriage which fulfils the needs of mind and body, as it is the law of nature.

" The author has headed her stories appropriately. Her characterization is also of a high order.

" The element of interest is there in almost all stories, and with all this, the flow in expression remains undisturbed."